पुस्तक – वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

भारतीय
र्म एवं संस्कृति

बुद्ध प्रकाश

भारतीय धर्म एवं संस्कृति

(मेरठ विश्वविद्यालय के साधारण पाठ्यक्रमानुसार)

बुद्ध प्रकाश
पी-एच. डी., डी. लिट्
निदेशक,
भारतीय विद्या संस्थान
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम ब्रिज मेरठ

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम ब्रिज मेरठ

मूल्य ६ रुपये

नवज्योति प्रेस, मेरठ
में मुद्रित

निर्देशिका

MEERUT UNIVERSITY

Course of *Religion and Culture in India*

1. Harappa culture and religion.

2. Culture and religion of the Aryans—The Rigveda, the development of Brahamanical religion, the later Vedas, the Upanishads, age of the Ramayana and Mahabharata, varnashrama.

3. Buddhist religion and culture—Gautama Buddha, his life and teachings, the Sangha, Ashoka and the spread of Dhamma, Mauryan art, Mahayana, its basic idea Karuna and Maitri, contrast with Hinayana. Kanishka, Ashvaghosha, Nagarjuna and Vasubandhu, Gandhara and Mathura art, spread of Indian Culture abroad.

4. Jainism, Life of Lord Mahavir, Main tenets—difference between Jainism and Buddhism.

5. The Bhagavad Gita—Six Systems of Indian Philosophy. The Gupta Period, revival of the Brahmanic faith, Kalidas and the Classical Renaissance, Gupta art, Development of Indian Culture abroad.

6. The Rajput period—Assimilation of foreign elements in Indian Society. Shankaracharya.

7. Islam—its rise and development. Main tenets. The Sufi saints and their influence.

8. The Bhakti movement—Ramanuja and Ramananda, Kabir, Nanak, Chaitanya, Tulsidas and Tukaram.

9. The Mughal contribution to Indian Culture, Din-e-Ilahi and Dara Shikoh's patronage of Vedanta.

10. Guru Gobind Singh and the rise of the Sikhs. Rama Das and Shivaji.

11. Christ, his life and teachings—Main tenets and development of Christianity. Impact of Christianity on Indian Society and Religion.

12. Reform Movements in religion in the 19th century—Ram Mohan Roy and Dayananda Saraswati—Muslim Reform Movements.

Synthetic approach to religion—Ramakrishna, Tagore and Gandhi—basic unity of all religions.

पहला अध्याय

सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति

संस्कृति का फैलाव

पुरातत्त्व की दृष्टि से भारतीय धर्म और संस्कृति का विकसित रूप सबसे पहिले सिन्धु-सरस्वती के क्षेत्र में मिलता है। हाल की खुदाई से स्पष्ट है कि ईसा से करीब तीन हजार वर्ष पहिले बलूचिस्तान से पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक और अफगानिस्तान से गुजरात और सौराष्ट्र तक एक महान् संस्कृति मौजूद थी जिसका विकास वैयक्तिक रूप से हुआ और जिसकी निजी विशेषताएँ हैं। पूर्व में मेरठ जिले के आलमगीरपुर, बुलन्दशहर जिले के भटपुरा और मानपुर तथा गाजीपुर और बनारस जिलों से एवं कुछ स्थानों तक इसके अवशेष मिलते हैं। पश्चिम में बलूचिस्तान के मकरान तट [illegible]त बालाकोट, सोतका कोह और अरब सागर के किनारे पर सुतकागन दोर तक [illegible]के चिह्न पाए जाते हैं और फारस की खाड़ी में बहरीन द्वीप में रास-अल-कला आदि की संस्कृति से इसका गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। उत्तर में अफगानिस्तान में मुन्दीगाक और नाद-ए-अली तक इसका फैलाव मालूम होता है और इसके परे यह ईरानी संस्कृति और तुर्कमेनिस्तान के नमाजगातेपे और कारातेपे की जीवनशैलियों में घुलमिल जाती है। दक्षिण में साबरमती के तट पर लोथल, नर्मदा के मुहाने पर मेहगाम और तेलोड, भदर नदी पर रोजाडी और अडकाट, किम नदी पर भगतराव, समुद्रतट पर सोमनाथ पाटण और रंगपुर और सूरत तक इसके निशान हैं और दक्षिण-पूर्व में घग्गर के किनारे, बीकानेर और बहावलपुर के इलाकों में, इससे सम्बन्ध रखने वाली अनेक बस्तियाँ हैं। इस विशाल प्रदेश में इस संस्कृति के विभिन्न स्तर शहरों, क़स्बों और गाँवों के रूप में उभरे जिनमें सिन्ध के लरकाना जिले का मोहेन्जोदड़ो, पश्चिमी पंजाब के मोंटगुमरी जिले का हड़प्पा, पूर्वी पंजाब के अम्बाला जिले का रोपड़, राजस्थान के श्रीगंगानगर जिले का कालीबंगन और गुजरात में साबरमती के किनारे पर लोथल इसके प्रमुख केन्द्र थे। ये सभी नगर लगभग एक से नमूनों पर खड़े हुए और इनमें करीब-करीब एक-सा जीवन का तरीका चालू रहा।

संस्कृति का उद्भव और विकास

विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि इस संस्कृति की शुरुआत कैसे हुई। व्हीलर आदि पुरातत्त्वविदों का विचार है कि इसका विकास पश्चिमी एशिया की सुमेरी संस्कृति के प्रभाव से हुआ। हेरास, चटर्जी आदि मानते हैं कि इसके निर्माण का

श्रेय द्रविड़ों को है और फेयरसर्विस का विश्वास है कि यह हिन्दी-ईरानी इलाके की अपनी उपज है। वास्तव में इसकी कुछ ऐसी बातें हैं जो दुनिया में और कहीं नहीं मिलतीं। जैसे, इसमें मकान पक्की ईंटों से बनाए जाते थे जबकि सुमेर में कच्ची ईंटों का ही रिवाज रहा; इसमें न सुमेरी शहरों की तरह मन्दिर मिले हैं न मिस्री नगरों जैसे महल या मकबरे, इसमें पीपल की पूजा, बैल के महत्व, स्नान-ध्यान और सफाई पर जोर, खास किस्म की लिपि और कला-शैली के चलन और अपनी तरह के धार्मिक आचार-विचार के जो अवशेष और चिह्न मिले हैं वे अब तक और कहीं नहीं दीखे; इसके शहरों का ढाँचा निराला है और उनमें बनी मकानों की योजना अनोखी है। उनमें मिला सामान एक खास किस्म के रहन-सहन के ढंग को जाहिर करता है जिसकी मिसाल और कहीं नहीं है। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति इस देश की अपनी चीज है और यहाँ सैकड़ों और हजारों साल पहिले से चले आ रहे रहन-सहन के विकास का फल है जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से किसी और संस्कृति से जोड़ने का कोई प्रमाण कहीं नहीं है। समय के साथ-साथ यहाँ का दे[illegible] जीवन अपने आप शहरी रहन-सहन में बदल गया, काम-धन्धों के गँवारू ढंग [illegible] सुथरे हो गए, औजार और सामान बढ़िया, मजबूत और उपयोगी होने लगे, [illegible] की व्यवस्था में विकास हुआ, लोगों के विचारों में गहराई और पैनापन आया [illegible] जीवन के हर पहलू में जोरदार तरक्की का उभार दिखाई दिया।

[illegible]ंस्कृति का स्वरूप

सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति का नक्शा ऊपर बताए गए बड़े शहरों की खुदाई के आधार पर खींचा जा सकता है। इससे पता चलता है कि इस काल का शहर दो भागों में बँटा होता था। पश्चिम की ओर का भाग शासनाधिकारियों का गढ़ था। इसमें बड़े-बड़े भवन होते थे और यह ऊँची चहारदीवारी से घिरा होता था। मोहेन्जोदड़ो में इस भाग में २३० फुट लम्बी और ७८ फुट चौड़ी जिस इमारत के अवशेष मिले हैं उसमें निश्चय ही कोई बड़ा आदमी रहता होगा। इसमें ३३ फुट वर्ग का एक सहन था जिसके तीन तरफ बरामदे थे। बरामदों के बराबर में कमरों की कतारें थीं। इनके फर्श पक्के थे और दो में ऊपर जाने के लिए जीने थे। इस इमारत के पाँच दरवाजे पूर्व की ओर गली में खुलते थे और एक एक दक्षिण और पश्चिम में खुलता था। इसके दक्षिण में स्नान-कुण्ड था। यह ३९ फुट लम्बा, २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा था और पक्की ईंटों का बना था। इसके चारों तरफ बरामदे और कमरों की दो-मंजिला पंक्तियाँ थीं। इनमें आठ ९·५ फुट लम्बे और ६ फुट चौड़े गुसलखाने और उनके ऊपर की मंजिल में रिहायशी मकान थे। इस स्नान-कुण्ड से ठीक पश्चिम में १५० फुट लम्बा और ७५ फुट चौड़ा अनाज का गोदाम था। गढ़ के दक्षिणी भाग में ९० फुट वर्ग का सभा-भवन था जिसमें बैठने के लिए ईंटों की मंचिकाएँ थीं। गढ़ के पूर्व में खुला शहर था जिसमें साधारण जनता रहती

थी। यह चौकोर था और योजना के अनुसार बनाया गया था। इसके बीच में एक चौड़ी सड़क उत्तर से दक्षिण को चलती थी। इसके समानान्तर पश्चिम की ओर एक ऐसी ही सड़क थी। इन दोनों सड़कों को समकोणों पर काटती हुई पूर्व से पश्चिम को एक और सड़क जाती थी। यह सड़क शहर के दक्षिणी हिस्से में थी। दक्षिण से उत्तर को जाने वाली पश्चिमी सड़क उत्तार के किनारे पर पूर्व की ओर मुड़कर बीच वाली सड़क में मिल जाती थी। इन बड़ी सड़कों से अनेक रास्ते और गलियाँ निकल कर शहर को बहुत से मुहल्लों में बाँटती थी। सड़कों की चौड़ाई १४ से ३३ फुट तक थी और छोटी से छोटी गली ४ से ६ फुट तक चौड़ी थी। इन सड़कों और गलियों में जमीन के नीचे नालियाँ थीं जिन्हें साफ करने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर आदमी के घुसने के लिए सूराख बने थे। इन नालियों के अलावा छोटी गलियों में गन्दा पानी सोखने के गड्ढे थे। वे या तो ईंटों के बने थे या बीच में बड़े-बड़े पक्के मटके रखकर बनाए गये थे। गलियों के किनारे रिहायशी मकानों की कतारें थीं। इन मकानों में दहलीज और सहन और उसके चारों ओर कमरे होते थे जिनके रोशनदान और खिड़की बहुधा आर-पार खुलते थे। इनमें से एक गुसलखाना और एक पाखाना होता था। इनमें से गन्दे पानी की नालियाँ निकल कर बाहर पानी सोखने वाले गड्ढों में गिरती थीं या बड़ी नालियों में मिलती थीं। अक्सर मिट्टी की नालियाँ पानी के निकास के लिए लगाई जाती थीं। मकानों में कूड़ा डालने की जगह अलग होती थी और बहुतों में पानी के कुएँ भी बने थे। जीना चढ़कर दूसरी मंजिल पर पहुँचते थे। बड़े आदमियों के मकान बड़े और छोटों के छोटे थे और कुली, कबाड़ी, कारीगर और दुकानदार बैरकों जैसे मकानों में रहते थे। इनमें दो-दो कमरे या एक-एक सहन और एक-एक कमरा होता था, पास ही भट्टियाँ और काम करने के चबूतरे थे। जब आबादी का जोर बढ़ा तो लोगों ने सड़कों पर घिराव करना शुरू कर दिया। बाद में तो लोग शहरों में भट्टे तक बनाने लगे।

इन शहरों की बनावट से अन्दाजा होता है कि ये लोग सादगीपसन्द और तड़क-भड़क के खिलाफ थे। इनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी था और इनकी विचार-धारा व्यावसायिक थी। लेकिन सादगी के साथ इन्हें सफाई का पूरा ध्यान था और उपयोगिता के साथ-साथ ये योजना और अनुशासन के पाबन्द थे। यद्यपि ये बेजा शानो-शौकत के शौकीन न थे, इनकी जिन्दगी खासे आराम से गुजरती थी और इन्हें मुनासिब सजावट का काफी ख्याल था। ये छोटी दाढ़ी रखते और बीच से मूंछों को बुरकवाते, सूती कपड़े पहनते, तिपत्ती के छापे या कढ़ाई की शालें ओढ़ते, गेहूँ और जौ का आटा चक्की में पीस कर खाने के सामान बनाते, नारियल, अनार, खरबूजे और मांस-मछली का इस्तेमाल करते, गाय, भैंस, भेड़-बकरी, सुअर आदि पालते, काँसी, तांबे, पत्थर मिट्टी के प्याले, कटोरे, मटकने, कलश, रकाबी, तश्तरी और पेन्दीदार लम्बी नली की बेलियाँ और कई किस्म के खाने-पकाने के बरतनों का प्रयोग करते। इनकी स्त्रियाँ हाथों में कोहनी तक चूड़ियाँ पहनतीं; सोने-चांदी, हाथीदांत, सेलखड़ी आदि के बने बुन्दे,

झुमके, कोके, दस्तबन्द, हार, तगड़ी आदि धारण करतीं, बालों को धागों और फीतों से बाँधतीं और साज-सज्जा के सामान कन्घे, शीशे, लेप, सुगन्ध आदि में रुचि रखतीं। इनके बच्चे गाड़ी, रथ, पशु-पक्षी के आकार के खिलौनों से खेलते, मुर्गे की शकल की सीटियाँ बजाते और पकी मिट्टी के गिट्टों से चौपड़ या मोहरे वाले खेल खेलते। यह सादा, सुचारु और समृद्ध जीवन मजबूत आर्थिक आधार पर टिका था। खेती-बाड़ी और पशुपालन के अलावा इनके उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यापार बहुत उन्नति पर थे। लोथल में सीपी और चमकीले पत्थरों के मनके, घोंघे और शंख का सामान हाथीदाँत की चीज़ें और ताँबे के औजार और बरतन बनाने के बड़े-बड़े कारखाने थे। वहाँ से यह सामान और सूती कपड़े जहाजों पर लदकर पश्चिमी जगत् में जाते थे। जहाजों के आने जाने के लिए एक झील और उस पर बना पुश्ता था। पास ही माल भरने के गोदाम थे। व्यापार का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। खास तौर से पश्चिमी एशिया से काफी घनिष्टता थी। अतः खुशहाली और ईमानदारी बढ़ी-चढ़ी थी जिसकी वजह से पश्चिमी देशों के लोग इस देश को स्वर्ग समझते थे। वहाँ के साहित्यों में इसे 'दिलमुन' नामक स्वर्ग का नाम दिया गया है।

संस्कृति का धार्मिक आधार

सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति के विकास के पीछे गहरी धार्मिक मान्यताएँ थीं। वहाँ के लोग लिखे-पढ़े और कला-शिल्प में निपुण थे। अतः उनकी कलाशैलियों, मुद्राओं पर बनी आकृतियों, बरतनों पर छपी चीतनकारियों, कब्रों में दबी चीजों आदि से उनके धर्म के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। यह खेद की बात है कि अभी तक उनकी लिपि ठीक से नहीं पढ़ी जा सकी जिससे उनकी भाषा और उसमें व्यक्त विचारों का ज्ञान नहीं हो सका, लेकिन फिर भी अन्य सामग्री से इस विषय में काफी रोशनी मिल जाती है जिससे कुछ ऐसे अनुमान लगाए जा सकते हैं जो बहुत हद तक संभव हैं।

पृथ्वी माता और विश्वरूप प्रजापति की परिकल्पना

सिन्धु-सरस्वती के लोगों के मन्दिरों में पूजा करने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता, किन्तु ऐसा लगता है कि वे पृथ्वी माता की प्रतीक किसी देवी को मानते थे। इस देवी की पूजा सभी कृषि-प्रधान समाजों में प्रचलित थी। लोग इसके सामने नरबलि करते थे और उसके बदले में यह उन्हें धनधान्य देती थी। इसके अलावा वे तीन मुख वाले ऊर्ध्वलिंग देवता के उपासक थे। एक मुद्रा पर अंकित चित्र से पता चलता है कि इस देवता के सिर पर दो सींगों और उनके बीच में पंखेदार वस्तु का बना तिकोना मुकुट है; इसके गले में त्रिकोणात्मक हार है और हाथों में ऊपर तक कंकड़ों की लड़ियाँ हैं; इसके बराबर में हाथी, चीता, गेण्डा और भैंसा हैं और आसन के नीचे हरिणों का जाड़ा

है। प्रायः विद्वान् इसे पशुपति शिव का रूप मानते हैं, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इसके साथ शिव के विशिष्ट वाहन नन्दी वृषभ का कोई संबंध नहीं दिखाया गया। यदि यह शिव होता तो इसके साथ नन्दी का होना जरूरी था। लगता ऐसा है कि यह शिव न होकर विश्वरूप त्वष्टृ है जिस की चर्चा ऋग्वेद (१०. ९९. ६) में हुई है। वहाँ इसे विश्वकर्मा प्रजापति का रूप या पुत्र बताया गया है। यह सृष्टि में स्रष्टा के अवतार का प्रतीक है। इसके तीन सिर, मन, प्राण और वाक् (भूतजगत्) को प्रकट करते हैं जिनसे विश्व की सृष्टि होती है। इसका ऊर्ध्वलिंग स्रष्टा की प्रजनन-शक्ति का परिचय देता है और इसके आसन के नीचे बने हुए दो हरिण प्रजापति और उसकी पुत्री ऊषा के हरिण और हरिणी के रूप में सम्भोग करने के सूचक हैं जिसकी चर्चा मैत्रायणि संहिता (४. २. १२) और ऐतरेय ब्राह्मण (३. ३३) में आई है। इसके दोनों ओर दिखाए गए पशुओं के चित्र ऋग्वेद (३. ५५. १९) में वर्णित त्वष्टा के पशुपति रूप को प्रकट करते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि इस देवता की आकृति के पीछे विश्वरूप की परिकल्पना है।

सृष्टिविद्या और विश्वदर्शन

कुछ और मुद्राओं पर बने हुए आकारों से पता चलता है कि ये लोग तीन, पाँच, सात और सोलह की संख्याओं को पवित्र समझते थे। तीन से अभिप्राय मन, प्राण, वाक् (भूततत्त्व) है, पाँच इन तीनों तत्त्वों के पंचधा विभाग का प्रतीक है, सात मन, प्राण और भूत के पाँच रूपों, अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी, का परिचायक है और सोलह मन, प्राण, वाक् के पाँच पाँच विभागों और अव्यक्त तत्त्व या प्रक्रिया की समष्टि का सूचक है जिसे वेद में 'षोडशी प्रजापति' कहा गया है। इन विचारों को एक मुद्रा पर बड़े विलक्षण रूप से अंकित किया गया है। इसमें ऊपर की ओर एक मनुष्य के मुँह वाला बकरा, एक घुटनों के बल टिका हुआ और कुछ उठाकर खाता हुआ सा आदमी और पीपल की टहनियों में घिरा और तिकोना मुकुट और चोटी पहने हुए एक व्यक्ति दिखाया गया है और नीचे की ओर सात व्यक्तियों की एक पंक्ति अंकित की गई है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ऊपर के हिस्से की आकृतियाँ ऋग्वेद (१. १६४. १) अस्यवामीय सूक्त में वर्णित 'तीन भाइयों'—वामपालित होता, अश्न और घृतपृष्ठ—को व्यक्त करती है, और नीचे के हिस्से की सात शकलें उसमें बताए गए 'सात पुत्रों'—मन, प्राण और पाँच भूतों - की परिचायक हैं। भाव यह है कि एक अज या अव्यक्त तत्त्व, जिसमें गति और स्थिति का योग है, विकास और निर्माण की बुभुक्षा प्रकट करता है और 'अश्न' बनता है, और फिर सृष्टि में लीन हो जाता है। फलतः मन प्राण और पंच भूतों में अवतीर्ण होकर विविध रूपों वाले विश्व में परिणत हो जाता है।

पीपल, साण्ड और नाग की पूजा

सिन्धु-सरस्वती के लोग पीपल को पवित्र मानते थे। उनकी मुद्राओं पर पीपल के अनेक रूप मिलते हैं। कहीं इसे वेदिका से उगा हुआ दिखाया गया है, कहीं इसके भीतर देवता को अंकित किया गया है, कहीं इसकी पाँच पत्तों की टहनी और कहीं ग्यारह पत्तों की शाखा चित्रित की गई है। एक जगह इसकी पाँच टहनियों पर सात पत्ते ऊपर की ओर और दो नीचे की ओर और बराबर में एक-शृंग सांप दाएँ-बाएँ को बल खाते दिखाए गए हैं। कपड़ों और बरतनों पर भी पीपल की टहनी और पत्तों के अनेक डिजाइन मिले हैं। वेद में पीपल का पेड़ विश्व-सृष्टि का प्रतीक है। ऋग्वेद (१०. ३१. ७) में स्वर्ग और पृथ्वी दोनों को विश्वरूपी अश्वत्थ से बना बताया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ८. ६. ६) में ब्रह्म को वृक्ष कहा गया है। वस्तुतः भारत में आरम्भ से ही पीपल को ब्रह्म का रूप समझ कर पूजा जाता रहा है। सिन्धु-सरस्वती के नगरों और ग्रामों के चौराहों और रास्तों पर बड़े-बड़े पीपल के पेड़ रहे होंगे जिनकी जड़ों को सब स्त्री-पुरुष पूजते और जल से सींचते होंगे जैसा आज तक होता है।

इस संस्कृति में साण्ड का भी बड़ा महत्व था। शहरों की सड़कों पर बड़े-बड़े साण्ड विचरते होगें और लोग श्रद्धा से उन्हें भोजन देते होंगे। वैदिक परिभाषा में भी साण्ड देवत्व का प्रतीक माना गया है और पवित्र समझा गया है। अभी तक हिन्दू जनता इसे पूज्य समझती है।

साण्ड के अलावा नाग भी इस युग में पूज्य माने जाते थे। कुछ मुद्राओं पर उनका अंकन है। वेद में अहिर्बुध्न्य नाग को अच्छा और वृत्र को बुरा बताया गया है। एक प्रकृति के गति पक्ष का द्योतक है और दूसरा गतिरोध का। इस गतिरोध को समाप्त कर प्रगति के पथ को खोलना ही इन्द्र द्वारा वृत्र की हत्या के आख्यान में सन्निहित है।

सिन्धु-सरस्वती प्रदेश की कुछ मुद्राओं पर मनुष्य को चीते से लड़ता दिखाया गया है। इस चित्र के एक विकल्प में वृक्ष पर चढ़ा आदमी चीते को भगा रहा है जो जाता हुआ पीछे को मुँह करके देख रहा है! इन चित्रों में वृक्ष और मनुष्य प्रकृति के व्यवस्थित पक्ष के रूप हैं और चीता उसके उद्दाम पक्ष का प्रतीक है। इन दोनों पक्षों में जो निरन्तर संघर्ष चल रहा है, वही इन चित्रों से व्यक्त होता है।

अग्निकृत्य और स्नान-ध्यान और जल-देवता की प्रमुखता

ये लोग किसी न किसी रूप में अग्नि-कृत्य भी करते थे। कालीबंगन के मकानों में कोयले आदि से भरे गड्ढे मिले हैं और एक टीले पर चबूतरे के ऊपर कुँए और गुसलखाने के पास वेदियों की पंक्ति पाई गई है। स्पष्टतः यह यज्ञभूमि प्रतीत होती

हैं जहाँ यजमान ऊपर की मूँछ मुँडवाकर और बाये कंधे पर पीपल के पत्तों के डिजाइन की शाल डालकर यज्ञ करते और अनेक छेदों वाले बरतनों में से सहस्रधार सोमरस वितरित करते थे। यज्ञ के बाद ये 'अवभृत' नामक स्नान करते थे जिसके लिए कुण्ड और तालाब बने होते थे। इन्हें जल-देवता में बड़ी श्रद्धा थी। समुद्र, नदी, तालाब और कुण्ड को ये इस देवता का निवास मानते थे। सुमेरी वृत्तों के अनुसार इनके उपास्य देवता एन्की और निनसीकिल्ला थे जिनकी पहचान वरुण और सरस्वती से की जा सकती है।

परलोक में विश्वास

लोगों को परलोक में विश्वास था। वे समझते थे कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा दूसरे लोक में जाती है। अतः मुर्दे को या तो रस्मी तौर से कब्रों में दबाया जाता था या उसे जलाकर उसकी भस्मी कलश में रक्खी जाती थी। मुर्दे या भस्मी के साथ पशु, पक्षी, मछली, मनके, कड़े, बरतन आदि चीजें भी रक्खी जाती थीं जिससे वे अगली दुनिया के सफर में उसके काम आएँ। एक मृद्‌भाण्ड पर बकरा, गाय या बैल और कुत्ता अंकित है जिससे शायद पंचौदन बकरे की बलि की तरफ इशारा हो।

सामान्य जनता को जादू टोने टोटके में भी विश्वास था और बहुत सी मुद्राएँ शायद गण्डे तावीज़ का काम देने के लिए बनाई गई हों।

जब तक सिन्धु-सरस्वती काल की लिपि नहीं पढ़ी जाती उस वक्त तक उसके धर्म और संस्कृति के बारे में कुछ विश्वास से नहीं कहा जा सकता। लेकिन चित्रों, आकृतियों, अवशेषों आदि के आधार पर यह अनुमान सहज में किया जा सकता है कि उस काल के लोगों की धार्मिक मान्यताएँ वैदिक विचारों से मेल खाती हैं। यह धारणा कि यह संस्कृति वेद-विरोधी थी भ्रान्तिमूलक और साक्ष्यहीन है। वस्तुतः इसकी बहुत सी परिकल्पनाएँ वेद-सम्मत रूप में आज तक हिन्दुओं में वर्तमान हैं।

दूसरा अध्याय

वैदिक धर्म और संस्कृति

वेद और आर्यों का आदिदेश भारत

यदि पुरातत्त्व की दृष्टि से भारतीय धर्म और संस्कृति का विकसित रूप सबसे पहिले सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता में दिखाई देता है तो साहित्य की दृष्टि से इसका परिपक्व रूप सबसे पहिले वेद में मिलता है। वेद सत्य है, सत्य काल से परे है, अतः वेद शाश्वत है। चिन्तन, दर्शन और साक्षात्कार के क्षणों में जो ज्ञान-रश्मियाँ ऋषियों के मनःपटल पर अवतीर्ण हुईं। वे शब्दों और प्रतीकों के माध्यम से वेद के मंत्रों और सूक्तों के रूप में प्रकट हुईं यह दिव्य ज्ञान सामयिक परिभाषाओं और परिकल्पनाओं में ग्रथित होकर एक विशेष सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रस्फुटित हुआ और उसके अनुरूप एक विशेष धार्मिक उपचार, आचार-संहिता और जीवनशैली में उपनिबद्ध हो गया। इस प्रकार वेद के शाश्वत होने पर भी इसका बाहरी परिधान ऐतिहासिक है और यह भारतीय सांस्कृतिक विकास की एक विशेष अवस्था का चक है।

वेद का भाषाबद्ध रूप सिन्धु-सरस्वती के प्रदेश में विकसित हुआ। इस बात ा कोई पुष्ट साक्ष्य नहीं मिलता कि इसके इस रूप के रचयिता आर्य कहीं बाहर से यहाँ आए। विद्वानों ने आर्यों के आदिदेश के विषय में अनेक अटकलों के तीर चलाए हैं और स्केन्दीनेविया से अल्ताई पर्वत तक और आर्कतिक सागर से तिब्बत तक जहाँ मन चाहा इसे भिड़ाने की कोशिशें की हैं। किन्तु केवल इसी बात से कि उनमें इस विषय में इतना भारी मतभेद है यह नतीजा निकलता है कि वे अधूरे तथ्यों और अधकचरे प्रमाणों को लेकर कल्पना की उड़ानें भरते हैं। यदि वेद के अपने साक्ष्य को लिया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य ऋषि आरम्भ से ही सप्तसिन्धु-प्रदेश में रहते और इसे देवनिर्मित देश समझते थे। एक मंत्र में सरस्वती का सम्बोधन करते हुये ऋषि कहता है: "सरस्वती, हमें धनधान्य से सम्पन्न करो, हमें अपने से दूर न करो, न अपने दुग्ध से वंचित करो; हमारा सख्य और सत्कार स्वीकार करो, हम आप से हटकर किसी अन्य देश में न जाएँ" (ऋग्वेद ६. ६१. १४)। मानव संस्कृति के उषाकाल से ही इस प्रदेश में बसे हुये लोगों ने, जिन्हें आचार-विचार की पवित्रता के कारण 'आर्य' कहा जाता था, दिव्य ज्ञान की ज्योति को वेद की भाषा में संगृहीत किया। अतः वेद भारतीय धर्म और संस्कृति का शाश्वत और अक्षय कोष है। पुरातत्त्व से जो सामग्री मिली है उसका कहीं इससे विरोध नहीं है वरन् वह इसकी पूरक है।

वैदिक वाङ्मय का स्वरूप

वेद का विस्तार असीम है। विष्णु पुराण के अनुसार इसके मंत्रों की संख्या लाखों तक थी। द्वापर के आरम्भ में कृष्ण द्वैपायन व्यास ने ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व की संहिताओं के रूप में इसकी सामग्री का सम्पादन किया। ऋग्वेद के १०,५०० मंत्र १,०१७ सूक्तों और १० मण्डलों में उपन्यस्त हैं। यजुर्वेद आकार में ऋग्वेद का दो-तिहाई है, इसमें अधिकतर गद्य है, कहीं-कहीं जो मंत्र मिल जाते हैं वे ऋग्वेद से लिए हुए हैं, हालाँकि अक्सर उनके पाठों में भेद है। सामवेद ऋग्वेद से आधा है और पद्य में है। इसकी बहुत सी सामग्री भी ऋग्वेद से ली गई है, किन्तु यज्ञों के क्रम से सज्जित की गई है। अथर्ववेद भी ऋग्वेद से लगभग आधा है, इसके पहिले दस काण्डों में मंत्र हैं और बाद के दस में गद्य-भाग भी है। यद्यपि इसमें टोनों-टोटकों की बहुतायत है, इसका करीब पाँचवाँ भाग ऋग्वेद से लिया गया है और इसका पन्द्रहवाँ काण्ड उच्चतम दार्शनिक विचारों से भरा हुआ है।

वेदों का पठन-पाठन मौखिक था। विद्वानों के सम्प्रदाय, जिन्हें चरण कहते थे, अपने-अपने ढंग से इसका पारायण करते थे। इससे विभिन्न पाठ-परम्पराएँ चल पड़ीं थीं। इन्हें शाखा कहते हैं। ईसा से पूर्व दूसरी सदी में पतंजलि के समय ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ थीं। अब केवल शाकल शाखा बची है। यजुर्वेद की एक सौ शाखाएँ थीं। इन्हें दो भागों में बाँटा जाता है जिनका संबंध कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद से है। कृष्ण यजुर्वेद की आजकल तीन शाखाएँ मिलती हैं, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ रह गई हैं, माध्यन्दिन और काण्व। सामवेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें से अब केवल तीन, कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय, बची हैं। अथर्ववेद की नौ शाखाएँ थीं। उनमें से अब दो, शौनक और पैप्पलाद, मौजूद हैं।

वेद के धार्मिक उपचार का वर्णन करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। इनके दो भाग हैं, विधि (नियम) और अर्थवाद (आख्यानों, पुराणों और इतिहास द्वारा नियमों के अर्थ की व्याख्या)। प्रत्येक वेद के अपने अपने ब्राह्मण हैं: ऋग्वेद के कौषीतकि या शांखायन ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण या पंचविंश ब्राह्मण, छान्दोग्य या मंत्र ब्राह्मण और सामविधान ब्राह्मण और अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण। इन ब्राह्मणों के परिशिष्ट 'आरण्यक' कहलाते हैं और उनके अन्तिम भाग 'उपनिषद्' हैं। इस समस्त साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए शिक्षा (स्वर ध्वनि), छन्द, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और कल्प नामक छः विद्याएँ हैं जिन्हें वेदांग कहते हैं। कल्प के तीन विभाग हैं, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। यह विश्व का एक महान् आश्चर्य है कि यह इतना विशाल साहित्य मौखिक संक्रमण द्वारा अत्यन्त शुद्ध रूप से सुरक्षित रहा।

वैदिक विज्ञान और दर्शन

वेदों का विषय विश्व-दर्शन अथवा सृष्टि-विद्या है। इनमें संसार को समझने का भव्य प्रयास है। जगत् और जीवन की विविधता और जटिलता एक आश्चर्य-जनक प्रश्न के रूप में इनमें व्याप्त है। प्रकृति और नियति के परिवर्तनशील पक्ष और बहुरूपदर्शी व्यापार समस्याओं की बौछारें बन कर इन्हें घेरे हुये हैं। इन सब प्रश्नों और समस्याओं का वे स्पष्ट उत्तर देते हैं कि इस विस्मयजनक विविधता और इन चकराने वाले परिवर्तनों में एक ही तत्त्व व्याप्त है, एक ही सत्ता कार्यशील है। उसका कोई खास नाम न लेकर उसे सिर्फ 'तदेकम्' (वह एक) कहा गया है (ऋग्वेद १०. १२९. २)। 'वह एक' अपनी सृजनात्मक प्रेरणा (काम) से अपने आप को विश्व के विविध रूपों में प्रकट करता है। स्थिति और देश की दृष्टि से यह विश्व का 'स्कम्भ' (चौखटा) है। गति और काल की दृष्टि से यह विश्व की प्रक्रिया (काल) है (अथर्ववेद १०. ७; १०. ८; १९. ५३-४)। इसकी यह देश-कालमयी अभिव्यक्ति प्रगति और विश्रान्ति की अन्तःप्रक्रिया का रूप लेती है। इसे सत् और असत् का संघर्ष कहते हैं। यही त्वष्टा के दो पुत्रों, इन्द्र और वृत्र, का द्वन्द्व है।

विश्व की मौलिक एकता

सृष्टि के इस एक तत्त्व को विद्वान् बहुत से नामों से पुकारते हैं (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति) (ऋग्वेद १.१६४.४६)। ये नाम, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि, वस्तुतः एक ही सत्ता को व्यक्त करते हैं (महद्देवानामसुरत्वमेकम्) (ऋग्वेद ३.५५)। वह एक शक्ति या सत्ता तीन रूप धारण कर मन, प्राण और भूत बन जाती है। फिर भूत के पाँच भाग हो जाते हैं, आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी। ये सात विभाग विकास के क्रम से सोलह हो जाते हैं (षोडश कलं वा इदं सर्वं) (शतपथ ब्राह्मण १३.५.१.१५)। छान्दोग्य उपनिषद् (४.४-९) में इन सोलह भागों की गिनती इस प्रकार की गई है, पूव, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, समुद्र, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, प्राण, नेत्र, कर्ण और मन। इन सोलह रूपों वाला विश्व ही 'षोडशी प्रजापति' है (कौषीतकि ब्राह्मण १६.१५.४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १.७.५.५)।

स्रष्टा और सृष्टि का अभेद

स्रष्टा और सृष्टि में भेद नहीं है। स्रष्टा सृष्टि में व्याप्त है, सृष्टि स्रष्टा का रूप-विस्तार है। ऋग्वेद के हंसवती सूक्त (१०.४०.५) में कहा गया है कि "वह प्रकाश के रूप में ज्योतिर्मय आकाश में व्याप्त है, वसु (वायु) के रूप में अन्तरिक्ष में निवास करता है, होता (अग्नि) के रूप में यज्ञवेदी पर विद्यमान

है, अतिथि के रूप में घर में रहता है, प्राण के रूप में मनुष्य के अन्दर मौजूद है और ऋत् अर्थात् विश्व के अनुशासन के रूप में सब जगह फैला हुआ है" । अतः परमात्मा, मनुष्य, प्रकृति एक ही सत्ता से निष्पन्न हैं और एक ही अनुशासन में ग्रथित होकर विश्व के दिव्य समन्वय को व्यक्त करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०.८.४) के अनुसार "अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है, वाक् हृदय में, हृदय मुझ में, मैं अमरत्व में और अमरत्व ब्रह्म में" अर्थात् विश्वात्मा, जीवात्मा और भौतिक जगत् एक समष्टि के अंग के रूप में एक अपूर्व सामञ्जस्य में बँधे हुए हैं।

मनुष्य का देवत्व

मनुष्य विश्वात्मा के अत्यन्त निकट है और उसकी महत्तम अभिव्यक्ति है। वेद कहता है कि 'महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ' (महोदेवो मर्त्यानाविवेश) (ऋग्वेद, ४.५८.३) । अतः मनुष्य देवत्व का रूप है। ऋषि वामदेव के शब्दों में वह चिल्ला उठता है "मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं प्रज्ञावान् ऋषि कक्षीवान् हूँ, मैं उशना कवि हूँ, मेरी ओर देखो, मैंने आर्यों को पृथ्वीलोक दिया है, मैं यज्ञ करने वाले मनुष्यों को वर्षा प्रदान करता हूँ, मैं तुमुल निनाद के साथ जल गिराता हूँ, सब देवता मेरी आज्ञा मानते हैं" (ऋग्वेद, ४.२६.१–२) । इसी प्रकार महिला ऋषि वाच् कहती है "मैं सकल विश्व की साम्राज्ञी हूँ और सम्पूर्ण सम्पत्ति की दात्री हूँ, मैं सत्य की जानने वाली हूँ और पूज्यों में प्रथम हूँ, देवताओं ने मुझे विभिन्न लोकों में अधिष्ठित किया है, अतः मेरे विविध निवास हैं और मैं अनेक प्राणियों में विद्यमान हूँ" (ऋग्वेद, १०.१२५.३) । ये मन्त्र मानव-गौरव की महत्तम उपलब्धियाँ और उच्चतम अभिव्यक्तियाँ हैं। मानववाद का इतना ऊँचा और निखरा रूप अन्यत्र सुलभ नहीं है ।

भौतिक जगत् की दिव्यता

मनुष्य की तरह भौतिक जगत् भी दिव्य है। इसके समस्त उपादान सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि देवता हैं। द्यावापृथिवी (आकाश और पृथ्वी) अश्विनरूपी देवता हैं (शतपथ ब्राह्मण ४.१.५.१६; बृहद्देवता ७.१२६–७) । पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु और आकाश में सूर्य प्रधान देवता हैं। (निरुक्त ७.५) । ये क्रमशः बढ़कर ग्यारह-ग्यारह हो जाते हैं। फिर ये तेंतीस देवता तीन हजार तीन सौ उन्तालीस हो जाते हैं (ऋग्वेद ३.९.९) और इसके बाद इनकी संख्या तेंतीस करोड़ हो जाती है । इस प्रकार समस्त भूत जगत् देवमय है; प्रकृति का प्राङ्गण देवताओं से भरपूर है ।

एक से अनेक का विकास

समस्त प्रकृति भूत के अनन्त विस्तार में निहित है । इसे अदिति नामक देवी कहा गया है । यह अक्षुण्ण, अनन्त, अविभाज्य है । अतः यह देवताओं की माता या

समष्टि है और सृष्टि का मूल रूप है (ऋग्वेद, १. ८९.१०)। इसके पुत्र आदित्य हैं जिनमें मित्र, वरुण, भग, सविता, विष्णु और इन्द्र प्रमुख हैं। किन्तु ये सब सूर्य के रूप हैं जो त्रिधा विभक्त होकर तीनों लोकों में व्याप्त है और जिसके किरण-जाल में असंख्य देवता सन्निविष्ट हैं (बृहद्देवता १.६१–३)। वस्तुतः सभी देवता एक विश्वात्मा के अंग हैं एक दूसरे के सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं और एक दूसरे के रूप हैं (निरुक्त ७.४)। इस विश्वात्मा का प्रतीक सूर्य है।

अव्यक्त और व्यक्त का संबंध

समस्त विश्व-प्रकृति और मनुष्य-दिव्य है। किन्तु इसकी सारी शक्तियाँ व्यक्त नहीं हैं। बहुत सी शक्तियाँ भौतिक व्यापारों के रूप में व्यक्त हैं जिनसे इन्द्रियगोचर जगत् का निर्माण होता है, परन्तु अनेक शक्तियाँ अव्यक्त रूप में वर्तमान हैं और अपने भीतर विकास के बीज छुपाए हुए हैं यदि ऐसा न होता तो विश्व में विकास और प्रगति के लिए कोई गुंजाइश ही न रह जाती। वैज्ञानिक आविष्कार इन अव्यक्त शक्तिओं में से कुछ की क्षमताओं को साकार रूप देने के प्रयास मात्र हैं। इसी आशय से ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०.९०) में कहा गया है कि समस्त विश्व 'पुरुष' के अस्तित्व का एक चौथाई भाग है क्योंकि उसका तीन-चौथाई भाग दिव्य अमरत्व में लीन है। इसका अर्थ-ह है कि विश्व की शक्तियों का चौथाई भाग ही व्यक्त रूप में वर्तमान है, शेष अव्यक्त मताओं में प्रच्छन्न हैं। इस प्रकार विश्व में शक्तियों की व्याप्ति (immanence) ौर दूरस्थता (transcendence) दोनों हैं। धर्म की परिभाषा में भगवान् सृष्टि में भी है और इससे परे भी है।

माया और मेटीरियल

जैसा ऊपर कहा जा चुका है एक ही सत्ता के विकास और विस्तार का नाम सृष्टि है। इस प्रक्रिया को 'माया' कहते हैं। बरो महाशय के मतानुसार यह शब्द हिन्दी-योरोपीय धातु 'मा' से बना है जिससे लातीनी 'मातर' (माता) और वर्तमान 'मेटीरियल' भी बने हैं। इस प्रकार 'माया' और 'मेटीरियल' समानार्थक हैं। इनका अभिप्राय उस क्षमता से है जिससे कोई शक्ति भौतिक माध्यम से साकार रूप ग्रहण करती है। ऋग्वेद (३.५३.८ ; ६.४७.१८) में इन्द्र के प्रत्येक रूप में परिणत होने की क्षमता को माया कहा गया है। इसका मतलब एक तत्व के अनेक रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया अर्थात् विश्व की सृष्टि, निर्माण और विकास है। यह सोचना गलत है कि इसका अर्थ विश्व का मिथ्यात्व या भ्रान्तिमय रूप है। वास्तव में वेद विश्व, प्रकृति और मनुष्य को नित्य ही नहीं वरन् दिव्य मानता है।

त्रयी विद्या

विश्व के विविध रूपों और व्यापारों में सतत समन्वय चलता है। इसे 'ऋत' कहते हैं। यह इसके अवयवों को संतुलित और संगठित रखता है। इसके संविधान और सामंजस्य को प्रतिपल विकास (सम्प्रसारण) और संकोच (समञ्चन), गति (यत्) और स्थिति (जू), से गुजरना पड़ता है (शतपथ ब्राह्मण, ६. १, १, १ ; १०. ३. ५. १-२)। इन दोनों के योग को 'यजुष्' कहते हैं। इसमें प्रगति है। इसके द्वारा शक्ति के आकार ग्रहण करने की क्षमता (ऋक्) कार्यशील रहती है। यह आकार इसके फैलाव की सीमा के अनुसार होता है। इसका नाम साम' है। इस प्रकार प्रगति द्वारा किसी शक्ति के अपने प्रसार की सीमा के अनुसार आकार ग्रहण करने की प्रक्रिया ऋक्-यजुष्-साममयी त्रयी विद्या है (तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३ १२.९.१)। यही सृष्टि या प्रकृति अथवा विश्व है।

प्रकृति, समाज और मनुष्य की एकरूपता

जैसा संतुलन, समन्वय और अनुशासन विश्व में है वैसा ही मनुष्य को अपने जीवन में धारण करना है। विश्व में तीन लोक, तीन देव और तीन वेद हैं तो मानव-समाज में भी ब्राह्मण, राजन्य और विश् ये तीन वर्ग हैं और मनुष्य के शरीर में भी वात, पित्त और कफ तीन का विधान हैं। इसी प्रकार, एक दूसरी दृष्टि से, विश्व में विश्पति के सात पुत्र, सात आदित्य, सात लोक और सात ऋतु हैं तो समाज में भी स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र नामक सात अंगों से बना हुआ राज्यशासन कार्य करता है और मनुष्य के शरीर में मन, प्राण और सुनने, सूँघने, देखने, चखने और छूने का काम करने वाली पाँच इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं। इस प्रकार प्रकृति, समाज और मनुष्य के व्यापारों में एकरूपता है। ये सब एक व्यापक समन्वय और संविधान से बँधे हैं। मनुष्य को निरन्तर इस समन्वय को आत्मसात् करना पड़ता है और इसके लिए विश्व की शक्तियों से सान्निध्य स्थापित करना पड़ता है। इसके लिए प्रतीकों के रूप में बाह्य उपचारों की आवश्यकता होती है। इन्हें यज्ञ कहते हैं।

यज्ञ का स्वरूप

विश्व-प्रकृति के प्रांगण में जो सृजन, निर्माण और विकास की अविरल लीला चल रही है, मन, प्राण और भूत का जो अनवरत संयोग-वियोग हो रहा है, यही यज्ञ है। विश्व की प्रक्रिया अश्वमेध यज्ञ है (बृहदारण्यक उपनिषद्, (१. १. १)। मानव-शरीर में जीवित रहने और सांस लेने की क्रिया भी यज्ञ है (ऐतरेय आरण्यक, ३. २.६)। इस विश्वव्यापी यज्ञ के साक्षात्कार के लिए प्रतीकों के रूप में भौतिक यज्ञों का विधान है जो मंत्रों का विषय है। ये यज्ञ मनुष्य और प्रकृति के बीच प्रतीकों का सेतु बनाते हैं। इनसे मनुष्य प्रकृति से नाता जोड़ता है और उसकी शक्तियों का उपयोग करने की

क्षमता प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण (४. ६. ७. १–२) कहता है कि ऋक् पृथ्वी है, यजुष् अन्तरिक्ष हैं और साम द्युलोक हैं, अतः इन में विहित उपचारों के द्वारा अर्थात् अग्नि, इन्द्र और सूर्य के आवाहन द्वारा मनुष्य इन तीनों लोकों को जीत लेता है।

दैनिक और पाक्षिक यज्ञ

भौतिक यज्ञ प्राण और भूत के संयोग का प्रतीकात्मक अभिनय है। इसे करने से मनुष्य विश्व की शक्तियों का आवाहन कर उन्हें अपने में धारण करता है। अतः विभिन्न उद्देश्यों से अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करने पड़ते हैं : (१) देवयज्ञ, इसमें भोजन, घी, दूध, दही अग्नि में डाला जाता है, (२) भूतयज्ञ, इसमें भोजन की बलि चारों तत्त्वों (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, प्रजापति, काम, विश्वेदेवों आदि को दी जाती है, (३) पितृयज्ञ, इसमें पितरों के लिए दक्षिण दिशा की ओर भोजन, जल फेंका जाता है, (४) ब्रह्मयज्ञ, इसमें वैदिक पाठों का स्वाध्याय करना पड़ता है, और (५) मनुष्य यज्ञ, इसमें अपने आप भोजन करने से पहिले किसी अतिथि को भोजन कराया जाता है। इनके अलावा उसे रोज सुबह व शाम अग्निहोत्र करना पड़ता है। इसमें पहिले दूध में पानी मिलाकर उसे गार्हपत्य अग्नि पर गर्म किया जाता है और फिर आहवनीय अग्नि में छोड़ा जाता है। सूर्योदय ˈ पहिले सूर्य और प्रजापति को और सूर्यास्त के बाद अग्नि और प्रजापति को जौ ार चावल की आहुति दी जाती है। महीने में दो बार प्रतिपदा और पूर्णिमा को र्शपूर्णमासेष्टि की जाती है। इनमें क्रमशः अग्नि और इन्द्र और अग्नि और सोम को पुरोडाश् (अन्न का परोंठा) दिया जाता है। यह यज्ञ दो दिन चलता है। पहिले दिन यजमान पवित्रता का व्रत लेता है और अग्नियों का आधान करता है। अग्नि तीन प्रकार की होती है; गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय। गार्हपत्य की वेदी गोल और दक्षिण के अर्धवृत्त के आकार की होती है। ये दोनों एक ही छतरी में होती हैं। आहवनीय अग्नि की वेदी चौकोर होती है और इसकी छतरी भी अलग होती है। अगले दिन यजमान और उसकी पत्नी विधिपूर्वक पुरोडाश् तैयार करते हैं और पहिले गार्हपत्य और फिर आहवनीय अग्नि जलाते हैं और घी की आहुति (आधार) और फिर पुरोडाश् देते है। अन्त में अग्नि स्विष्टकृत् की सर्व देवताओं के लिये आहुति दी जाती है।

चातुर्मासिक और अन्य यज्ञ

वर्ष में तीन बार वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुओं के आरम्भ में क्रमशः वैश्वदेव, वरुणप्रघास और साकमेध यज्ञ किए जाते हैं। पहिले में अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती और पूषा के लिए पांच तर्पण किये जाते हैं और इसके बाद मरुतों को पुरोडाश्, विश्वेदेवों को दूध और द्यावापृथिवी को पुरोडाश् दिया जाता है; दूसरे में आटे की मेण्ढे और भेड़ की मूर्तियाँ ऊन से सानकर दूध के साथ वरुण और मरुतों को भेंट

की जाती हैं और वर्षा के लिए करीर के फलों की बलि दी जाती है, साथ ही यजमान की पत्नी अपने व्यभिचार आदि को, यदि कोई हो, स्वीकार करती है और दक्षिण अग्नि में दलिए की परात चढ़ाती है ; तीसरे में पितरों को भोजन दिया जाता है, रुद्र त्र्यम्बक को बलि दी जातो है और इसके बाद हल के दो भागों (शुनासीरों) की पूजा होती है। गृह्य उपचारों में श्रावण पूर्णिमा को विष्णु, वर्षा ऋतु और श्रावण के देवता को पकवान चढ़ाया जाता है और मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को आग्रहायणी या प्रत्यवरोहण का पर्व मनाया जाता है। इस अवसर पर मकानों की सफाई-सफेदी होती है। इनके अलावा शरद् या वसन्त में पशुधन की वृद्धि के लिए शूलगव यज्ञ किया जाता है जिसमें रुद्र को बैल की बलि दी जाती है, बौढ्यविहार कर्म में भात को घी में डुबाकर पलाश के पत्तों की टोकरी में रुद्र के लिए पेड़ पर लटकाया जाता है, स्थालीपाक कर्म में क्षेत्रपति के लिए दिया गया भोजन पशुओं के आने जाने के मार्ग में रखा जाता है, वृषोत्सर्ग में कार्तिक पूर्णिमा को साण्ड छोड़ा जाता है।

सोमयज्ञ

वैदिक यज्ञों में सोमयज्ञ प्रमुख है। इसे बड़े आदमी करते थे। यह प्रायः बसन्त में नए वर्ष के आरम्भ में किया जाता था। इसका उपचार इस प्रकार है। पहिले १६ याज्ञिक नियुक्त किए जाते हैं जो यजमान और उसकी पत्नी को दीक्षित करते हैं। फिर सोम की बूटी खरीद कर गाड़ी में लाई जाती है। पहिले दिन प्रवर्ग्य या गर्म दूध की आहुति होती है, दूसरे दिन सोम को वेदी पर लाकर सिल-बट्टे से पीसा और छन्ने से छाना जाता है, फिर इसे कलशों में भरकर दूध में मिलाया जाता है और फिर कटोरों में देवताओं को भेंट किया जाता है। प्रायः दिन में तीन बार यह सोम का सवन होता है। तीसरे दिन अग्नि और सोम को बकरे की बलि दी जाती है और अन्त में यजमान अवभृथ नामक स्नान करता है। सोमयज्ञ सात प्रकार के हैं। इनमें वाजपेय शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इसमें रथों की दौड़ खास तौर से होती है। राजसूय और अश्वमेध राजाओं के लिए हैं। ये यज्ञ लम्बे चलते हैं।

कुछ यज्ञों में, जैसे 'निरूढ़ पशुबन्ध' और 'पर्यग्निकरण' में पशुबलि दी जाती है। किन्तु इसे सामान्यतः अच्छा नहीं समझा जाता। इसलिए पशुवध के समय लोगों के मुँह फेरने और इसके अपराध के लिए देवताओं से क्षमा मांगने के मंत्रों को पढ़ने का विधान है।

सोलह संस्कार

मनुष्य का जीवन सोलह संस्कारों में बंधा है। 'गर्भाधान' के समय खास रस्म होती है। गर्भ के तीसरे महीने में 'पुंसवन' होता है जिससे पुत्र उत्पन्न हो। चौथे से आठवें महीने के बीच 'सीमन्तोन्नयन' होता है जिसमें पति पीछे से पत्नी के गले में

उदुम्बर की टहनी बाँधता है और पहिले दर्भ के अंकुरों से और बाद में वीरतर की लकड़ी के टुकड़े से उसके बाल बाहता है। इसका उद्देश्य यह है कि पत्नी उर्वरा हो और बालक वीर हो। जन्म के समय 'जातकर्म' किया जाता है। पिता तीन बार बालक पर सांस छोड़ता है और सोने के बर्तन या चमचे से मक्खन, शहद और दही उसकी जीभ पर लगाता है। जन्म के दसवे दिन 'नामकरण' होता है जिसमें बालक का नाम रखा जाता है। फिर 'निष्क्रमण' होता है जिसमें बालक को पहिली बार घर से बाहर घुमाया जाता है। छठे महीने 'अन्नप्राशन' होता है जब बालक को पहिली बार अन्न खिलाया जाता है और तीसरे वर्ष, क्षत्रिय और वैश्य के बालक के लिए क्रमशः पाँचवे और सातवें वर्ष 'चूडाकर्म' होता है और उसके बाल काटे जाते हैं। इसके बाद 'कर्णवेध' में उसके कान बींधे जाते हैं। फिर 'विद्यारम्भ' द्वारा उसे अक्षर-ज्ञान सिखाया जाता था। इसके बाद प्रमुख संस्कार 'उपनयन' होता है। इसमें बालक को जाति के अनुसार आठवें, ग्यारहवें या बारहवें वर्ष में विद्या पढ़ने के लिए गुरु के पास भेजा जाता है। बालक मृगछाल, पलाशदण्ड, मौंजी आदि धारण कर आश्रम-जीवन का व्रत लेता है। दीक्षा के पश्चात् 'वेदारम्भ' होता था। उसके बाद फिर 'केशान्त' यानी बाल काटने का संस्कार होता था। विद्या की समाप्ति पर 'समावर्तन' होता है। इसके बाद 'विवाह' का नम्बर आता है। इसमें 'पाणिग्रहण' (वर द्वारा कन्या का हाथ पकड़ना), 'परिणयन' (तीन बार अग्नि की परिक्रमा), 'अश्मारोहण' (पत्थर पर पैर रखना), 'लाजाहोम' (अग्नि में धान की खीलों की आहुति देना) 'सप्तपदी' (वर-कन्या का सात कदम साथ चलना), 'ध्रुवदर्शन' (ध्रुव तारे को देखना) प्रमुख कृत्य हैं। चौथे दिन 'चतुर्थीकर्म' होता है और पत्नी गर्भधारण करती है। मृत्यु पर 'अन्त्येष्टि' होती है। शव को श्मशान में चिता पर रखा जाता है। यदि वह जीवन में आहित रहा हो तो तीन अग्नियाँ जलाई जाती हैं। उसकी पत्नी कुछ देर के लिए उसके पास लेट कर उठ जाती है। उसका धनुष भी उसके पास रखा जाता है और फिर या तो उठा लिया जाता है या तोड़ कर उसके साथ जला दिया जाता है। तीसरे या दसवें दिन फूल चुगे जाते हैं और कलश में भरकर दबाए जाते हैं और ऋग्वेद (१०. १८) का उच्चारण किया जाता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध द्वारा मृत को पितरों में शामिल किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में मृत व्यक्ति के लिए समाधि बनाने का भी आदेश है।

वेदकालीन समाज

उपर्युक्त यज्ञ-याग जिस समाज में किए जाते थे वह पितृसत्ताक था। उसमें संयुक्त परिवार की प्रथा थी और उसका कर्ता सर्वाधिकार, सम्पन्न था। स्त्री की अपेक्षा पुरुष का महत्व अधिक था किन्तु स्त्रियाँ भी विदुषी होती थीं, सन्ध्या आदि करती थीं, उन्हें यज्ञ करने का अधिकार था (ऋग्वेद ८. ९१. १) वे धन-सम्पत्ति (पारिणाय्य)

रख सकती थीं, भाई के न होने पर उन्हें पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त था, वे समाज-समितियों में खुली (बिना पर्दे के) जाती और भाग लेती थीं और स्वतन्त्र रूप से रंगाई, कढ़ाई, बुनाई आदि का काम करती थीं। केवल आचरण की दृष्टि से लोगों को 'आर्य' या 'दास' कहा जाता था। जो श्रेष्ठ, उदात्त और सदाचारी थे, वे 'आर्य' कहलाते थे; जो शोषक, नृशंस और अत्याचारी थे उनके लिए 'दस्यु' या 'दास' शब्द का प्रयोग किया जाता था। ये निन्दा के पात्र समझे जाते थे और उन्हें 'कृष्णगर्भ' (काले रंग वाले), 'अनास' (बिना मुँह वाले), 'मृध्रवाच्' (अटपट बोलने वाले), 'शिश्नदेव' (व्यभिचारी) आदि गालियाँ दी जाती थीं। समाज के लोग 'विश्' कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण, जिन्हें 'कारु', 'विप्र', 'कवि', 'वेधस्' आदि कहते थे और क्षत्रिय, जिन्हें 'राजन्य' कहते थे, कुछ अलग और ऊँचे माने जाते थे। लेकिन कोई कर्म या व्यवसाय पैतृक नहीं था; मनुष्य अपनी रुचि के अनुकूल अपने-अपने धन्धे करते थे। कोई 'कवि' था तो उसका पिता भिषग् था और उसकी माता पत्थर का काम करती या आटा पीसती थी। एक व्यक्ति प्रार्थना करता है कि वह राजा बने, या फिर ब्राह्मण बने, ऐसा भी न हो तो रईस आदमी हो (ऋग्वेद ३. ४३. ५)। काठक संहिता (३०. १) में लिखा है कि किसी विद्वान् की जाति का पता लगाने की जरूरत नहीं थी। शतपथ ब्राह्मण (१०. ४. १. १०) कहता है कि श्यापर्ण सायकायन के कुछ पुत्र ब्राह्मण बने, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य। बाद में ये तीन वर्ण जातियाँ बन गई और इनमें 'शूद्र' नामक एक चौथी जाति भी जुड़ गई, लेकिन शुरू में इनमें जाति-पाँति और रोटी-बेटी का कोई खास भेद न था। लोग देहात में सादा जीवन बिताते, खेती-बाड़ी करते और उद्योग-धन्धे चलाते थे। कुछ लोग शहरों में रहते थे, लेकिन जब उन्होंने अत्याचार शुरू कर दिया और उनका शोषण ज्यादा बढ़ गया, तो उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और उनके विरुद्ध विद्रोह छेड़ दिया गया जिसका साक्ष्य वेदों के बहुत से सूक्तों में मिलता है।

वैदिक जीवन का आदर्श

वेद में जीवन का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है उसकी बड़ी विशेषता कर्मठता, समन्वय और अनुशासन हैं। वेद में संसार-त्याग और सन्यास की चर्चा तक नहीं है। विवाह के समय वर कामना करता है कि वह जीवन-पर्यन्त पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि से घिरा हुआ समृद्ध जीवन बिताए (ऋग्वेद १०. ८५. ३६)। वह सौ वर्ष तक कर्मठ, सक्रिय और सृजनशील रहने के लिए कृतनिश्चय है। वह सदा उन्नति, प्रसन्नता और उत्साह की बातें सोचता है (ऋग्वेद १. ३६. १४, ६. ५२. ५)। उसका जीवन आशा और ज्योति का कोष है। यह महत्व की बात है कि वेद में 'नरक' की चर्चा नहीं है, न 'मोक्ष' आदि का बखेड़ा है। सर्वत्र खुशी और खुशहाली की उमंगें उमड़ रही हैं, आनन्द और उत्साह का ज्वार फैल रहा है, ज्योति और विकास की किरणें फूट रही

हैं ; आत्म-विश्वास कूट-कूट कर भरा है (अथर्ववेद १२. १. ५४ ; ऋग्वेद १०. १२८. १)। प्रत्येक व्यक्ति भद्रता और कल्याण की ओर ध्यान देता है (यद् भद्रं तन्न आ सुव) (यजुर्वेद ३०. ३), कानों से भद्र को सुनता है और दृढ़ता से घोषणा करता है "मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता" (अहमिन्द्रो न पराजिग्ये) (ऋग्वेद १०. ४८. ५)। किन्तु वह पवित्रता और संतुलन का जीवन बिताना चाहता है। वह ऋत और सत्य को अपने में समेटने की साधना करता है। वह यज्ञ द्वारा सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करता है। (सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्) (यजुर्वेद १८. ५)। उसका जीवन अनुशासनमय है। वह सब के सुख को अपना सुख मानता है। अतः ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में उसका आह्वान है :

"सब इकट्ठे हो जाओ, एक वाणी से बोलो, तुम सब के मन समन्वित हों... सब के विचार संयुक्त हों जिससे सब सुख से रहें"।

बुद्धि का प्राधान्य

वैदिक धर्म अन्धविश्वास से रहित और बुद्धिवाद पर आधारित है। आचार्य यास्क ने लिखा है कि ऋषियों की परम्परा समाप्त होने पर जब मनुष्यों ने ब्रह्मा के पास जाकर उनसे ऋषि माँगे तो उन्होंने बुद्धिरूपी ऋषि दिया। अतः बुद्धि द्वारा वेद को समझना आवश्यक है। यास्क फिर लिखते हैं कि जो व्यक्ति वेद के अर्थ को समझे बिना इसे रटता या टर्राता है वह भार ढोने वाला ठूँठ है और जो इसे समझ कर पढ़ता है उसके सब पाप ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाते हैं (निरुक्त, १. १८)। वास्तव में अर्थ ही वाणी का पुष्प और फल है (निरुक्त, १. २०)। इस अर्थ की खोज के विविध मार्ग हैं। इसलिए वेद की व्याख्या के अनेक रूप हैं। याज्ञिक लोग इसका अर्थ कर्मकाण्ड की विधाओं की दृष्टि से करते हैं, तो नैरुक्त इसकी व्याख्या प्रकृति के व्यापारों द्वारा करते है, और ऐतिहासिक इसके पात्रों को अतीत काल में हुए व्यक्ति मानते हैं। अध्यात्मवादी इसमें अद्वैतवादी अथवा एकतत्त्वात्मक दर्शन ढूंढते हैं, तो कौत्स आदि आलोचकों को इसमें केवल बकवास दिखाई देता है और दुर्ग आदि आचार्य इसमें एकतत्त्ववाद, त्रिदेववाद और बहुदेववाद का समन्वय प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार वेद के विषय में अनेक दृष्टियाँ हैं जो इसके व्यापक बुद्धिवादी स्वरूप की परिचायक हैं।

तीसरा अध्याय

उपनिषदों और प्राचीन काव्यों का धर्म-दर्शन

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, उपनिषद् वैदिक ब्राह्मणों के परिशिष्ट हैं। इन्हें वेदरूपी समुद्र का मथा हुआ अमृत कहा जा सकता है। इनमें वैदिक चिन्तन का सार संगृहीत है और ये भारतीय मनीषा की कुँजी हैं। इनकी रचना की परम्परा मध्यकाल तक चलती रही और अल्लोपनिषद् अकबर के युग में लिखा गया। फलतः इनकी संख्या बहुत बड़ी है। मुक्तिका उपनिषद् (१.३०.३९) में १०८ उपनिषदों की सूची मिलती है। किन्तु शंकराचार्य ने केवल ११ उपनिषदों की टीका की है और करीब ६ और उपनिषदों के उद्धरण दिए हैं। अतः उनकी टीका के आधार पर ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और नृसिंहपूर्वतापनी को प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है। श्वेताश्वतर भी काफी पुराना है, यद्यपि इस पर शंकराचार्य की टीका संदिग्ध है।

'उपनिषद्' शब्द का एक अर्थ वह शास्त्र अथवा विद्या है जो गुरु के निकट बैठकर एकान्त में सीखी जाती है, किन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् की अपनी टीका की प्रस्तावना में शंकराचार्य ने लिखा है कि यह वह ज्ञान है जिससे जन्म-जरा-मरण का दुःख दूर हो जाता है और उच्चतम मंगल की उपलब्धि होती है। अतः इसे उप (निकट) + नि (पूर्णतः) + सद (नष्ट करना अथवा प्राप्त करना) अर्थात् 'उपनिषद्' कहते हैं। उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहते हैं, क्योंकि ये वेदों के अन्त में हैं और इनमें वेदों का निचोड़ है।

ब्रह्म और विश्व

उपनिषदों में विश्व के चरम तत्त्व की गवेषणा है। इसमें इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की गई है कि "वह क्या है जिसे जानने से विश्व की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है" (मुण्डक, १.१.३)। इसके उत्तर में बताया गया है कि विश्व की विविधता के पीछे एक ही तत्त्व है जिसे 'ब्रह्म' कहते हैं। 'ब्रह्म' शब्द 'बृहत्' से निकला है। इसका अर्थ 'बड़ा' है। इसमें विश्व की विशालता का भाव है (नृसिंहोत्तरतापिनी, ६)। विश्व का प्रत्येक रूप और तत्त्व इसका विवर्त है। जिस प्रकार एक ही अग्नि प्रत्येक वस्तु में तद्रूप हो रही है अथवा एक ही वायु प्रत्येक रूप में सन्निहित है इसी प्रकार समस्त भूतों का एक अन्तरात्मा प्रत्येक रूप में वर्तमान है (कठ, २.२.९—१०)। जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है, जिस प्रकार भूमि में तरह-तरह की

औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर में केश और रोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर (संपूर्ण) ब्रह्म से इस विश्व की सृष्टि होती है (मुण्डक, १.१ ७ ; बृहदारण्यक, २.१.२०)। जैसे रथ की नाभि और नेमि में सारे अरे फँसे रहते हैं ऐसे ही ब्रह्म में सारे भूत, सारे देव, सारे लोक, सारे प्राण और सारी वस्तुएँ फँसी हुई हैं (बृहदारण्यक, २.५.१५)। अतः अग्नि अर्थात् द्युलोक इसका सिर है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है और पैरों से पृथ्वी का विस्तार हुआ है (मुण्डक, २.१.४)। यही आगे और पीछे है, ऊपर और नीचे है, दाएँ और बाएँ है, सब कुछ और सब जगह है (मुण्डक, २.२.११)। इसी से सब चीज़ें पैदा होती हैं, इसी के द्वारा मौजूद रहती हैं और फिर इसी में चली जाती हैं (तत्तिरीय, ३.१.१)। यह सब कुछ जो विद्यमान है ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) (छान्दोग्य ३.१४.१)। प्रत्येक प्राणी ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म) (माण्डूक्य, २)। मैं और तू ब्रह्म हैं (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि) (बृहदारण्यक १.४.१०; छान्दोग्य, ६.८.७)। अतः समस्त विश्व, जड़ और चेतन, ब्रह्म है, दिव्य है, सत्य है।

परमात्मा और भूत-जगत्

चूंकि विश्व के विविध रूप हैं, इसलिये ब्रह्म या आत्मा के भी अनेक पक्ष हैं जिन्हें लेकर मतभेद हो सकता है। एक बहस में प्राचीनशाल औपमन्यव कहते हैं कि द्यौः आत्मा है, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय का विचार है कि वायु आत्मा है, जन शार्कराक्ष्य का मत है कि खाली जगह आत्मा है, बुडिल आश्वतराश्वि का सिद्धान्त है कि जल आत्मा है, उद्दालक आरुणि की धारणा है कि पृथ्वी आत्मा है, किन्तु इन सब मतों का समाहार करते हुये अश्वपति कैकय सिद्ध करते हैं कि इन सब भूतों और तत्त्वों की समष्टि अर्थात् समस्त विश्व आत्मा है (एष वै विश्वरूप आत्मा) (छान्दोग्य, ५.१३.१ ; ५.१८.२)। एक अन्य स्थान पर कबन्ध आथर्वण और उद्दालक आरुणि के प्रश्न का उत्तर देते हुये याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वायु ही वह सूत्र है जिसमें सब लोक, सब वस्तुएँ और सब प्राणी गुंथे हुये हैं (बृहदारण्यक, ३.७.२)। विदग्ध शाकल्य से बात करते हुये वे कहते हैं कि प्राण ही एकमात्र देवता है। यह एक डेढ़ होकर 'पवन' बन जाता है, जो विश्व में व्याप्त है, फिर दो, अर्थात् भूत और प्राण, बन जाता है, इसके बाद तीन होकर तीनों लोकों, द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी का रूप ले लेता है। तीन के छः हो जाते हैं, अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यु। छः के इकत्तीस बनते हैं, आठ वसु—अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र—ग्यारह रुद्र—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक आत्मा—और बारह आदित्य अर्थात् बारह महीनों के समकक्ष सूर्य के बारह रूप। इनके साथ इन्द्र (प्रकृति का प्रक्रियात्मक रूप) और प्रजापति (जीव-जगत् का पूरा ढाँचा) मिलकर इनकी संख्या तेंतीस हो जाती है। इसी तरह बढ़ते-बढ़ते ये तीन हजार तीन सौ छः हो जाते हैं और फिर विश्व के

असंख्य रूपों में परिणित हो जाते हैं। अतः विश्वरूपी ब्रह्म अर्थात् विश्वात्मा एक महान् शरीरी (शारीरः पुरुषः) जिसमें गति-प्रगति के असंख्य क्रम, रूप-विवर्तों की अनेक लीलाएँ और विकास-पतन की अनवतरत प्रक्रियाएँ चल रही हैं (बृहदारण्यक, ३.९.१०)। किन्तु चूँकि ब्रह्म या आत्मा इसमें सब जगह व्याप्त है, शक्ति-स्वरूप अथवा प्रज्ञानमय (प्रज्ञानं ब्रह्म, ऐतरेय, ५.३) है, एक प्रकार का सिद्धान्त या संतुलन या नियम है, इसलिए इसे पूरी तरह से किसी एक देश-काल की सीमा में बँधी हुई वस्तु का नाम नहीं दिया जा सकता। इस दृष्टि से यह अग्राह्य, अबद्ध, अनासक्त और अविनाशी है और इसके लिए 'यह नहीं, यह नहीं' (नेति, नेति) कहा जाता है। समष्टि व्यष्टि में रहता हुआ भी उससे परे होता है, नियम पदार्थों में रहता हुआ भी उनसे ऊपर होता है, इसकी पहचान किसी एक वस्तु से नहीं की जा सकती, क्योंकि यह सब में समाया हुआ है।

जगत् और जीवन का विकास

ब्रह्म विश्व का बीजरूप है। विकास की प्रक्रिया से इसके विविध रूप बने हैं (तस्मात् तत् सर्वमभवत) (बृहदारण्यक, १. ४. १०)। पहिले मन, प्राण और भूत बने (शतपथब्राह्मण, १४. ४. ३. १०)। फिर भूत के पाँच रूप हुए। क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वनस्पति, अन्न और मनुष्य बने (कौषीतकी ब्राह्मण, २.७)। इस विकासवाद को उपनिषदों में कई रूपकों द्वारा समझाया गया है। प्रश्न उपनिषद् (१. ४) में लिखा है कि जब प्रजापति को सृष्टि की इच्छा हुई तो उन्होंने तय किया और उससे 'प्राण' और 'रयि' के जोड़े को पैदा किया। यह जोड़ा 'सूर्य' और 'चन्द्रमा' के प्रतीकों द्वारा व्यक्त हुआ। 'प्राण' विश्व का सूक्ष्म और अमूर्त तत्त्व है और 'रयि' इसका स्थूल और मूर्त रूप है। 'प्राण' द्वारा व्यक्त भूत का मिश्रित, सम्मिलित अविभक्त रूप सूर्य में संचित है और 'रयि' में निहित इसका स्पष्ट, मूर्त, साकार और पृथक्कृत रूप सौर-मंडल के सदस्यों में मिलता है जिनका प्रतीक चन्द्रमा है। इस प्रकार जगत् में नित्य सूक्ष्म से स्थूल और अमूर्त से साकार और इससे विपरीत प्रवृत्ति चलती रहती है। तैत्तिरीय उपनिषद् (२. ७) में विश्व के विकास के पाँच दर्जे और पर्दे बताए गए हैं: (१) आनन्दमय कोश (२) विज्ञानमय कोश, (३) मनोमय कोश, (४) प्राणमय कोश, (५) अन्नमय कोश। सूक्ष्मतम रूप 'आनन्द' है, जिसे 'रस' भी कहते हैं; वह क्रमशः चेतना, मन, प्राण के दर्जों में से होता हुआ स्थूल रूप धारण करता है जिसका नाम 'अन्न' है। इन दर्जों और पर्दों की पारस्परिक सम्पर्क-परम्परा, एक से दूसरे में आना जाना, प्रतिपल चलती रहती है। अतः विकास-विलय विश्व की नित्य और सतत क्रिया है। ऐसा नहीं है कि यह एक बार होकर रुक गई हो।

यज्ञ की प्रक्रिया

विश्व की प्रक्रिया एक यज्ञ है। इसमें नित्य पाँच अग्नियाँ प्रज्वलित हैं और उसमें आहुतियाँ डाली जा रही हैं। सब से बड़ी अग्नि द्युलोक है जिसमें श्रद्धा

की आहुति चल रही है। इस से चन्द्र-लोक की उत्पत्ति होती है जो पितृलोक भी है। —इसके बाद चन्द्रमा इन्द्ररूपी दूसरी अग्नि की आहुति बनता है। इससे वर्षा होती है। यह वर्षा पृथ्वीरूपी तीसरी अग्नि की आहुति है। इससे अन्न उत्पन्न होता है। यह अन्न मनुष्यरूपी चौथी अग्नि में डाला जाता है। इस से बीज (रेतस्) बनता है। यह बीज पत्नीरूपी पाँचवीं अग्नि में पहुँचता है। इससे सन्तानोत्पत्ति होती है। यह सृष्टि-क्रम पंचाग्नि-विद्या है (बृहदारयण्क, ६.२; छान्दोग्य, ५. ४–१०)। प्रकृति की क्रिया अश्वमेध है (बृहदारण्यक, १. १. १) और जीवन का क्रम सोमयज्ञ है (छान्दोग्य, ३. १६. १-२)। मानव-जीवन के प्रथम चौबीस वर्ष सोम का प्रातः सवन है, इसके पश्चात् के चवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन है और अन्त के अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन है। इस प्रकार जगत् और जीवन दोनों यज्ञ हैं अर्थात इनमें प्राण और भूत का अन्तर्मिलन हो रहा है। अपने को अक्षुण्ण रखने के लिए प्राण भूत को आत्मसात् करता है; जीवन से स्पन्दित होने के लिए भूत प्राण से सम्पृक्त होता है; यही इन्द्र और अग्नि का सोम और अन्न से संबंध है जो इस विश्व की प्रत्रिया को नहीं समझते और मूढ़भाव से अग्नि में अन्न फूंकते हैं। वे अन्धों की पंक्ति की भाँति एक दूसरे के पिछलगे हैं और जन्म-मरण के फेर में फंसे हुवे हैं (मुण्डक, १. २. ७)। अतः यज्ञ-याग की विधि के चक्कर में अपना समय खोना बेकार है।

ब्रह्म और मनुष्य

विश्व में अनन्त और सान्त का द्वन्द्व है। इसका अनन्तरूप परमात्मा या ब्रह्म है और सान्त रूप जीवात्मा या मनुष्य है। अनन्त होने के कारण परमात्मा या ब्रह्म अमृत है और सीमाओं में बँधा होने के कारण जीवात्मा या मनुष्य जन्म-जरा-मरण के क्रम में फंसा है। अतः सीमाओं को तोड़ने, संकीर्णता को दूर करने और स्वार्थ को छोड़ने से जीवात्मा या मनुष्य जन्म-जरा-मरण के क्रम से मुक्त हो जाता है। जब सब स्वार्थमयी कामनाओं का अन्त हो जाता है तो मनुष्य अमृत बनकर ब्रह्मपद को प्राप्त करता है (कठ, २. ३. १४)। इन कामनाओं की समाप्ति विद्या और ज्ञान द्वारा होती है (ईश, ११)। जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है (मुण्डक, ३. २. ९)। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता (बृहदारण्यक ४. ४. ६)। वह यहीं, इसी लोक में, इसी जीवन में, मुक्ति पाता है। अतः यहीं, इसी जन्म में, सत्य को जानना जरूरी है, नहीं तो बड़ी भारी हानि है (केन, २. ५)। इसे केवल बौद्धिक दृष्टि से सिद्धान्तरूप में जानना काफी नहीं है, तप और सदाचार के द्वारा इसका साक्षात्कार करना आवश्यक है (प्रश्न, १. १५-१६)। तप, दान, सीधापन, किसी की हानि न करना और सच बोलना जीवन-रूपी यज्ञ की दक्षिणा है (छान्दोग्य, ३. १७. ४)। जीवन का महाव्रत यह है कि मनुष्य उदार विचार रखे (महामना हो), किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार न करे, लोक-मंगल की उपेक्षा न करे, विद्वानों का अनादर न करे और सबको अपने जैसा समझे (छान्दोग्य, २. ११.१३. १७.

२०) आत्मा कभी धन से तृप्त नहीं होती (कठ, १. १. २७)। अतः कभी दूसरे के धन पर दृष्टि न डाले (ईश, २. १. ७)। जो इस प्रकार का आचरण सिखाता है वही 'आचार्य' है (आचार्य आचारं ग्राह्यति) (निरुक्त, १. ४)।

कर्म और ज्ञान

सत्य तप और ब्रह्मचर्य को दैनिक क्रम में अनूदित करना है। कर्म ही अमृत है। (मुण्डक, १. १. ८)। कर्म करने वाला व्यक्ति सब ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ है (मुण्डक, ३. १. ४.)। इसी जगत् में और इसी जीवन में सौ वर्ष की आयु तक निरन्तर कर्म में लगे रहने की इच्छा रखनी चाहिए (ईश, २)। कर्म और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरा पंगु है। अतः संसार-त्याग अथवा सन्यास आवश्यक नहीं है। यह महत्व की बात है कि समस्त प्राचीन उपनिषदों में 'सन्यास' शब्द सिर्फ एक बार कठ उपनिषद् (१. ३. ७) में आया है। इनमें जिन ब्रह्म के जानने वाले और उसके दर्शन करने वाले आचार्यों का जिक्र है वे सब पुत्र-पौत्रादि से परिवृत सुखमय और ऐश्वर्य-पूर्ण गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए दिखाए गए हैं और इस कारण उन्हे 'महाशील' कहा गया है। इनका मत है कि गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ मनुष्य सदाचार, स्वाध्याय और इन्द्रिय-संयम द्वारा ब्रह्मलोक अथवा अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है (छान्दोग्य, ८. १५. १)। किन्तु एक दूसरा मत यह भी है कि अरण्य में रहकर श्रद्धा और तप का जीवन बिताने से ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग सहज हो जाता है (छान्दोग्य, ५. १०)। पर अरण्य में आश्रम बनाकर रहने वाले ऋषि भी प्रायः गृहस्थी होते थे।

सत्य और जाति

सत्य और धर्म जाति-पाँति की अपेक्षा नहीं रखते। 'जाति' शब्द ही उपनिषद् में नहीं मिलता। इनका मत है कि जो सत्य बोलता है वही 'ब्राह्मण' है (छान्दोग्य, ४.४.१-२) और जो सांसारिक शोक से खिन्न है वही 'शूद्र' है (छान्दोग्य, ४. १-३ ; ब्रह्मसूत्र, १. ३. ३४)। मनुष्य की स्वाभाविक कामना है कि मैं ब्राह्मणों, राजाओं और वैश्यों के यश को प्राप्त करूँ (छान्दोग्य, ८. १४. १)। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी उत्तम योनियाँ हैं। (छान्दोग्य, ५. १०. ७)। अतः प्रायः ब्राह्मण क्षत्रियों से विद्या पढ़ते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से शास्त्रार्थ करती हैं। मैत्रेयी और गार्गी उत्तम कोटि की ब्रह्मवादिनी हैं। प्रत्येक गृहस्थी कामना करता है कि 'मेरी पुत्री पण्डिता हो' (बृहदारण्यक, ६. ४. १७)। संक्षेप में सत्य के क्षेत्र में जाति, योनि, वर्ण, वर्ग के भेद-भाव का कोई स्थान नहीं है।

आनन्द और उत्साह

जगत् और जीवन आनन्द के समुद्र हैं। आनन्द की तरंगों के बिखरे हुए कण प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हैं। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं (आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते), आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द

में ही लीन होते हैं (तैत्तिरीय, ३. ६)। अतः प्रत्येक प्राणी का जीवन आनन्द, आशा और उत्साह का पुंज है। घोर से घोर दुःखी, दरिद्र, पापी, पातकी, रोगी, कोढ़ी, जीवन से चिमटा हुआ जीवित रहने की कामना रखता है, क्योंकि वह आनन्द के उस कण का स्वाद लेता है जिससे उसका व्यक्तित्व बना है। वह रोग को ललकार कर कहता है "अरे रोग! तू मुझे क्यों सता रहा है?, मैं तेरे कारण कभी नहीं मर सकता" (छान्दोग्य, ३. १६. ७)। उसके मन में दृढ़ता, विश्वास और निश्चय है। कमजोरी, सुस्ती और गिरावट उसके सब से बड़े शत्रु हैं। बिना बल के परमात्मा नहीं मिल सकता (मुण्डक, ३. २. ४)। अतः उपनिषद् मनुष्य को ललकारता है "उठो, जागो, वरों को प्राप्त करो और ज्ञान का अर्जन करो" (कठ, १. ६. १४), "तंगदिली को छोड़ो, छोटेपन को खत्म करो, बड़े विचार रक्खो, बड़े संकल्प करो"। जो बड़ा है वहीं सुख है जो अल्प है उसमें सुख नहीं है" (यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति) (छान्दोग्य, ७. २३. १)।

मृत्यु और मुक्ति

निश्चय और विश्वास के साथ और ज्ञान और कर्म का समन्वय कर मनुष्य जो आचरण करता है उससे विश्वैक्य अथवा परमात्मा अर्थात् ब्रह्म की प्रतीति होती है और वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। विश्व और प्रकृति में निरन्तर रूपों के परिवर्तन चल रहे हैं। कोई वस्तु पूर्णतः नष्ट नहीं होती, न किसी एकदम नई वस्तु का आविर्भाव होता है। अतः मृत्यु भी जीवन का अन्त नहीं है। यह एक विशिष्ट रूप-परिवर्तन है। इसके बाद जीवन के विभिन्न तत्त्व नई संगति में प्रकट होते हैं। इसे पुनर्जन्म के रूपक द्वारा समझाया गया है। किन्तु इस प्रक्रिया के दो रूप हैं, भौतिक और मानसिक। भौतिक रूप में तो यह जीवन के तत्वों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया अपने आप चलती ही रहती है और इसे कभी रोका नहीं जा सकता, किन्तु मानसिक रूप में जब हम यह समझ लेते हैं कि समस्त विश्व एक इकाई है और इसके भेद सिर्फ व्यावहारिक हैं तो यह प्राकृतिक प्रक्रिया कोई विशेष चिन्ता उत्पन्न नहीं करती और इसके कारण कोई कष्ट नहीं होता। इसी दृष्टि से यम नचिकेता को बतलाते हैं कि "जो मनुष्य विज्ञानवान् होता है, संयत-चित्त और सदा पवित्र रहता है, वह उस पद को प्राप्त करता है, जहाँ से पुनः जन्म नहीं होता" (कठ, १. ३. ७–६ इसे ही उस काल की लोक-मान्यता के अनुसार 'देवयान' (देवताओं का मार्ग) कहते थे। यह 'पितृयाण' (पितरों का मार्ग) से भिन्न है जिसे लोग कामनाओं को सामने रखकर बाह्य धर्मोपचार से प्राप्त करते हैं और जहाँ से आवागमन होता रहता है।

इस प्रकार उपनिषद् एक उदात्त, बलिष्ठ और कर्मठ जीवन-पद्धति के प्रतिपादक हैं। उनमें ओजस्वी, तेजस्वी, और वर्चस्वी जीवन की प्रेरणा है, उत्साह, विश्वास और आशा का संदेश है और अभ्युदय, विकास और उन्नति की ज्योति है, किन्तु साथ ही पक्षपात, दुराग्रह और अभिनिवेश का अभाव है, संकीर्णता, कट्टरता और

कठमुल्लापन से ग्लानि है, एक उपनिषद तो यहाँ तक कहता है कि शास्त्रों को पढ़ कर और उनके द्वारा सत्य को पहचान कर उन्हें इसी तरह त्याग देना चाहिए जैसे कोई चावल निकालकर छिलके को फेंक देता है (अमृतबिन्दु, १८)।

रामायण का धर्म

जिन दिनों उपनिषदों का विकास चल रहा था उसी काल में आख्यानों, पुराणों, कथानकों, लोकगीतों द्वारा लोगों के विश्वासों और मान्यताओं का निखार हो रहा था। काल-क्रम से लोक-मानस की ये व्यंजनाएँ प्राचीन काव्यों में गुम्फित हो गईं जिनमें रामायण और महाभारत प्रमुख हैं। रामायण महर्षि बाल्मीकि का लिखा हुआ सबसे पहिला काव्य है। ऐसी मान्यता है कि किसी व्याध द्वारा क्रौंच-क्रौंची के जोड़े में से क्रौंच के मारे जाने पर क्रौंची को जो व्यथा हुई उसे देख कर महर्षि का हृदय पिघल गया और एक श्लोक के रूप में फूट पड़ा जो भारतीय काव्य साहित्य का प्रथम पद है। लगता है, क्रौंची विरहिता प्रेमिका की प्रतीक है और उस से संबंधित लोक-गीत छोटे दर्जे के नट और गायक (कुशीलव) तन्त्री पर गाकर लोगों को सुनाया करते थे। इस परम्परा को परिष्कृत कर बाल्मीकि ने उदात्त साहित्यक रूप दिया। उनकी कृति रामायण के स्वरूप के विषय में विद्वानों में काफी मत-भेद है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आदि कवि ने अपनी अद्भुत् प्रतिभा द्वारा विविध सूत्रों को समेट कर एक उत्कृष्ट मौलिक काव्य की सृष्टि की। उस काव्य का प्रधान लक्ष्य चरित्र का वह आदर्श प्रस्तुत करना है जिससे मनुष्य देवत्व पर पहुँचता है। इसके अनुसार चरित्र ही धर्म है और इस कारण चरित्रवान् राम धर्म के मूर्तरूप हैं (रामो विग्रहवान् धर्मः) (रामायण अरण्यकाण्ड, ३८. १३)। यह चरित्र सत्यनिष्ठ और नियतात्मता पर आधारित है। इसकी कुँजी मन का संयम, इन्द्रियों पर अधिकार और कर्तव्य-पालन की तत्परता है। दूसरों के प्रति अपने दायित्वको निबाहना, लोक जीवन की मर्यादा की रक्षा करना, समाज की व्यवस्था को बनाए रखने में योगदान करना इसका महान आचार है। यही वह धर्म बन्धन है जो जीवन को ठीक रास्तों पर चलाए ले जा रहा है। इससे बंधा हुआ मनुष्य स्वार्थ से परमार्थ को श्रेष्ठ समझ कर लोकमंगल की साधना में लगा रहता है। अतः कैकेयी के कहने से राज्य से हटाए जाने पर राम सरलता से अपना अधिकार छोड़ देते हैं और जब कुछ लोग उनपर भीरुता का आरोप लगाते हैं तो वे उन्हें आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि मैं अकेला ही इस अयोध्या को और सारी पृथ्वी को अपने बाणों में नष्ट करके अपना अभिषेक करा सकता हूँ लेकिन मैं अधर्म से डरता हूँ क्योंकि धर्म के बंधन से बंधा हुआ हूँ" (धर्मबन्धन वद्धोऽस्मि) (अयोध्या काण्ड, १०६.६)। अतः उनका संकल्प है कि मैं लोभ, मोह, अज्ञान या किसी भी अन्य तामसी प्रवृति से सत्य के सेतु को नहीं तोडूंगा (अयोध्याकाण्ड, १०६. १७)। धर्म और सत्य जीवन के सब से कीमती कोश हैं जिन्हें खो देने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है और जिनकी वृद्धि से वह देवता बनता है इनके

अनुकूल आचरण करने से ही राम भगवान के रूप में पूजे जाते हैं और मनुष्य को देवत्व प्राप्त करने की निरन्तर प्रेरणा देते हैं। उनके माध्य से महर्षि बाल्मीकि ने संतुलित समाज, व्यवस्थित राष्ट्र, मर्यादित आचार और संयत व्यवहार की आधारशिला पर धर्म का सुदृढ़ प्रासाद खड़ा किया है जिसके आदर्शों की अट्टालिकाएं मानववाद के ऊँचे आकाश को स्पर्श करती हैं।

महाभारत का स्वरूप

रामायण की भांति महाभारत भी लोकधर्म का अमूल्य ग्रन्थ है। किन्तु इसमें रामायण जैसी एकसूत्रता न होकर जीवन का सघन जंगल उगा हुआ है। तरह-तरह के पात्र, चरित्र और व्यक्तित्व अपनी पूरी विविधता लिये हुए इसके चित्रपट पर चलते हैं, नाना प्रकार के दर्शन, आदर्श और सिद्धान्त आपस में काट-फाँट करते इसके प्रांगण में खचाखच भरे हैं; जीवन के बहुतेरे रंग-बिरंगे पक्ष नित्य शकलें बदलते इसके बहुरूपदर्शी में घूम रहे हैं। जैसे इसमें सामग्री की बहुरूपता है वैसे ही इसका विकास काल के अन्तराल में बहुत दूर तक फैला हुआ है। यह एक हाथ की और एक समय की रचना नहीं है वरन् इसमें अनेक हाथों, वाणियों और मस्तिष्कों ने युगयुगान्तरों तक काम किया है। इसके अपने लेख से पता चलता है कि शुरू में महर्षि वेद व्यास ने इसे अपने पुत्र शुक और शिष्य वैशम्पायन को सुनाया और सिखाया, वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ में इसका प्रवचन किया। उस समय इसमें चौबीस हजार श्लोक थे। वहाँ सुनकर उग्रश्रवा सूत ने नैमिषारण्य (नीमसार) में शौनक ऋषि के बारह वर्ष के यज्ञ में इसकी कथा सुनाई। शौनक ऋषि भार्गव थे। तब से भार्गवों से इसका गहरा संबंध हो गया। उन्होंने इसमें अपने वंश के आख्यान, अपने धर्म-दर्शन के विचार और नीति-सम्बन्धी लम्बी चर्चाएँ जोड़नी शुरू कीं। अतः इसका कलेवर बढ़ता गया और यह एक लाख श्लोकों का वृहद् ग्रन्थ बन गया। चौथी सदी ईसवी में यह अपना मौजूदा रूप ग्रहण कर चुका था जैसा गुप्तयुग के कुछ अभिलेखों से पता चलता है। किन्तु इसके पाठ के विषय में लोगों में मतभेद था, कुछ इसे मन्वादि पर्व से, जहाँ से यह अब शुरु होता है, प्रामाणिक मानते थे, कुछ आस्तीक पर्व से जहाँ से जनमेजय के नागयज्ञ की कथा चलती है, और कुछ उपरिचर के वृत्तान्त से, जहाँ से भारत वंश का वर्णन आरम्भ होता है। इन परम्पराओं को ध्यान में रखते हुये आधुनिक विद्वानों ने इसके विभिन्न स्तरों का विश्लेषण और कालनिर्णय करने की कोशिशें की हैं। इनमें होप्किन्स महाशय का यह मत उल्लेखनीय है कि इसके विकास के पाँच स्तर हैं: (१) भारत वंश के गान जो ४०० ई० पू० तक बन चुके थे, (२) पाण्डवों का वीर काव्य जो ४०० ई०पू० और २०० ई० पू० के बीच में लिखा गया, (३) कृष्ण को भगवान् मानने वाले भागवत धर्म का ग्रन्थ जिसकी रचना २०० ई० पू० और २०० ई० के मध्य हुई, (४) कुछ बाद के पर्व और पहिले पर्व की प्रस्तावनाएँ जो २०० ई० से ४०० ई० तक कभी जोड़ी गई, और

(५) बाद के प्रक्षेप और समूचे ग्रन्थ का सम्पादन जो ४०० ई० के बाद हुआ। हो सकता है महाभारत का विकास इस तरह हुआ हो, या किसी और तरह, पर यह सच है कि इसके बनने में हजार वर्ष से ज्यादा लगे और इसकी सामग्री अनेक जगहों से इकट्ठी की गई। तथापि इसके वर्तमान रूप में यह कहना बहुत कठिन है कि कौन सा अंश कब और किसके हाथों लिखा गया। इस समय इसकी सारी सामग्री एक साथ गड्ड-मड्ड है, है, यद्यपि कभी-कभी और कहीं-कहीं इसमें विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों के दर्शन हो जाते हैं।

महाभारत में धार्मिक विविधता

महाभारत का कथानक भारत वंश के इतिवृत्त और उनके वंशज कौरव-पाण्डवों के युद्ध से बना है किन्तु इसमें अन्य आख्यानों-उपाख्यानों, धर्म-दर्शन की चर्चाओं और नीति-सम्बन्धी प्रवचनों का घना ताना-बाना पूरा गया है और उनसे एक रंग-बिरंगी बुनाई की गई है। अतः इसमें लोकधर्म के अनेक रूप और पक्ष दिखाई पड़ते हैं। कहीं वैदिक यज्ञों की अग्नि प्रज्वलित है तो कहीं कृष्ण की पूजा हो रही है, कहीं शिव की प्रार्थना जारी है तो कहीं देवी-दुर्गा को प्रसन्न किया जा रहा है, कहीं दर्शन की बारीकियाँ ढूँढी जा रही हैं, उदात्त धर्म का प्रवचन चल रहा है या नीति का आख्यान हो रहा है, तो कहीं नदी पर्वत, वृक्ष, नाग, प्रेत, पिशाच आदि की मिन्नतें की जा रही हैं, उन्हें बलियाँ चढ़ाई जा रही हैं और उनके उत्सवों, समाजों और यात्राओं का आयोजन हो रहा है। इस प्रकार महाभारत ऊँची-नीची सभी मान्यताओं का रोचक चलचित्र उपस्थित करता है।

वेद धर्म और लोक धर्म

महाभारत काल में ऋषियों के आश्रमों और ब्राह्मणों के घरों में वैदिक यज्ञ-याग होते थे जिनमें सूर्य, इन्द्र, अग्नि का आवाहन होता था, किन्तु सामान्य गृहस्थियों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा का प्रचार हो चला था और विष्णु के अवतार सन्ध्योपासन के पात्र माने जाने लगे थे। इनके अलावा नागों और यक्षों की पूजा का काफी रिवाज था। इनके लिये थूहे और चबूतरे बनाए जाते थे और उन पर धूप-दीप और शक्कर-शीरनी चढ़ाई जाती थी और बहुधा छोटे-मोटे जानवरों की बलि भी दी जाती थी। खास अवसरों पर उनकी 'जात' (यात्रा) दी जाती और मेले-ठेले किए जाते थे। इनमें सब जातियों के लोग मिलकर पीते-खाते, गाते-बजाते और खेलते कूदते थे। इन मेले-तमाशों, कुश्ती-दंगलों में राजा से रंक तक शामिल होते थे (आदिपर्व, १५२.१८; विराटपर्व, १२.१२)। देवताओं की छड़ियों के उत्सव धूमधाम से किए जाते थे (आदिपर्व, ५७.१७)। इन छड़ियों को पंचरंगे कपड़ों और फूलमालाओं से

सजाकर ढोल-ढपड़ों के साथ थान पर ले जाया जाता था, जहाँ लोग इन पर चढ़ावे चढ़ाते थे। आज तक छड़ियों के मेले बड़ी सजधज से किए जाते हैं। खास तौर से किसान इन्द्र की छड़ी को पूजते, तो ग्वाले पर्वत का उत्सव करते (हरिवंश, २.१६.६) और राजा और योद्धा धनुर्मह मनाते और किसी मजबूत धनुष को देवता का दिया हुआ मानकर उस पर बल-परीक्षण करते थे (हरिवंश; २.१०१.६४)। देवियों की पूजा भी काफी चल पड़ी थी। भगलिगा, माहेश्वरी, प्रजा और मातृका की पर्याप्त चर्चा थी। मगध में जरा और गन्धार से भीमा और हारीती नामक देवियों का बच्चों से गहरा सम्बन्ध था। ऐसा माना जाता था कि नाराज होने पर वे बच्चों को खा जाती हैं और खुश होने पर उनकी रक्षा करती हैं। इसलिए उन्हें रक्त और मांस की बलि से संतुष्ट किया जाता था, किन्तु बाद में दीवार पर उनकी आकृति बनाकर उस पर चावलों की मूंठ मारी जाती थी (सभापर्व १८.३–४)। आजकल भी घर-घर साँझी का मुंह दीवार पर लगाकर बच्चों की रक्षा के लिए उस पर धौक मारी जाती है। इसके अलावा बच्चे के जन्म से छठे दिन षष्ठी की पूजा की जाती थी (वनपर्व, २१८. ४७–४६) आजकल इसे छटी कहते हैं। एक अन्य देवी वृद्धिका थी (वनपर्व, २२०.१६)। लोक में इसका नाम बिहाई है। बच्चे की छटी की रात को औरतें इसके गीत गाती हैं। ऐसा माना जाता है कि यह उस रात को बच्चे को देखने आती है। नदियों की पूजा, उनके किनारे मेले लगाना, जैसे गंगा यमुना आदि के किनारे अब तक लगते हैं, बड़, बरगद, पीपल आदि वृक्षों की जड़ों में पक्के थाँवले बनाकर उनकी पूजा करना और प्रत्येक फल-पत्तों से लदे पेड़ को अर्चनीय समझना (आदिपर्व, १३८. २५) और हाथी, बैल, बन्दर, हंस, गरुड़ आदि को पवित्र मानना तथा भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, गन्धर्व आदि को टोने-टोटकों से वश में रखना उस समय के लोक धर्म के चालू रूप थे। बौद्ध साहित्य में गोव्रत और कुक्कुरव्रत का भी जिक्र आता है जिन्हें करने वाले गौ की तरह सींग बाँध कर चलते या कुत्ते जैसा व्यवहार करते थे।

सब धर्मों की एकता

इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि लोकधर्म उच्चतम आध्यात्मिक व दार्शनिक कैलाश शिखर से निम्नतम अन्धविश्वासों और प्राकृत मान्यताओं के गर्त तक विस्तीर्ण था। किन्तु तत्वदृष्टा ऋषियों और विचारकों ने इसे एकता और समन्वय के सूत्र में बाँध कर वैदिक चिन्तन की परम्परा में पिरो दिया। उन्होंने सिद्ध किया कि एक ही परब्रह्म अपने आपको विभिन्न वस्तुओं, पदार्थों और देवताओं के रूप में प्रकट करता है। स्रष्टा के रूप में वह ब्रह्म है, रक्षक के रूप में विष्णु और संहर्ता के रूप में शिव (वनपर्व, २७२.४७)। इन्द्र, सूर्य, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि वायु, सोम, जो आठों दिशाओं के अधिपति मान लिए गए, और अन्य अनेक देवी देवता भी उसके विविध

रूप हैं (वनपर्व, ३. १८ ; अनुशासनपर्व, १४. ३४६-८)। अतः जो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल जिस रूप में श्रद्धापूर्वक भगवान् का अर्चन करता है वे उसी रूप में उसे स्वीकार करते हैं (भगवद्गीता, ७. २१)।

जीवन की तीन दृष्टियाँ : नियतिवाद, प्रज्ञावाद और अध्यात्मवाद

महाभारत में प्रमुख रूप से जीवन की तीन दृष्टियों का अध्ययन है। ये हैं नियतिवादी, प्रज्ञावादी और अध्यात्मवादी दृष्टियाँ। इनके प्रतिपादक क्रमशः धृतराष्ट्र, विदुर और सनत्सुजात हैं। धृतराष्ट्र कहते हैं कि "किसी बात के होने या न होने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता, सब भाग्य के वश में है, ब्रह्मा सूत में बंधी कठपुतली की तरह सब को नचा रहा है" (उद्योगपर्व, ३६. १)। अतः मनुष्य को बड़े-छोटे ऊँचे-नीचे सबको बराबर समझना चाहिए, किसी प्रकार के परिश्रम या अध्यवसाय के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, झूठ-तूफान, धोखा-धड़ी से बचना चाहिए, काम-धंधे के प्रति अपेक्षा भाव रखना चाहिए और किसी वस्तु की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए (शान्तिपर्व, १७१. २-३)। इस नियतिवाद के अन्य रूप कालवाद (काल ही सब कुछ करता-धरता है), स्वभाववाद (सब वस्तुएँ अपने स्वभाव के अनुकूल अपने आप उत्पन्न होती, विद्यमान रहती और नष्ट होती हैं), भूतवाद (सब कुछ जड़ भौतिक तत्त्वों का परिणाम है), योनिवाद (जन्म और कुल ही पुरुष के पद और प्रतिष्ठा के निर्णायक हैं), यदृच्छावाद (संसार में सब कुछ आकस्मिक और अव्यवस्थित है) आदि भी मनुष्य की अशक्तता को प्रतिपादित करते हैं। किन्तु विदुर जैसे बुद्धि में विश्वास रखने वाले लोग इस सामर्थ्यहीनता से सहमत नहीं हैं उनका मत है कि पराक्रम से अनर्थ को टाला जा सकता है और बुद्धि से भविष्य का सुधार किया जा सकता है (उद्योगपर्व, ३६. ३२–४१)। मनुष्य का लक्षण कर्म है (आश्वमेधिकपर्व, ४३. २०)। यह लोक कर्म-भूमि है (वनपर्व, २६१. ३५)। कर्म को छोड़ बैठना मृत्यु है (उद्योगपर्व, ३६. ३८)। जिसके मन में उत्साह है वही जीवन में महान् बन सकता है (उद्योगपर्व, ३६. ४४)। मित्रों का समाज, धन की प्राप्ति, स्त्री और पुत्र का सुख, समय पर मीठी बातें, इष्टवस्तु की उपलब्धि, अपने वर्ग में मेल से रहना और लोक में सम्मान पाना आनन्द देने वाले हैं। इन्हें पाने के लिए समझ-बूझ कर होशियारी और चतुराई से काम करने से सफलता की राह खुलती है। शिष्टाचार और सदाचार और हृदय की सरलता और भावों की शुद्धि सब तीर्थों में स्नान करने से ज्यादा पुण्यप्रद हैं। इन्हीं से और इनसे सम्बंधित विद्या, तप, नियम, त्याग, दान, अप्रमाद, धृति, शान्ति, सत्यनिष्ठा आदि सद्गुणों से मनुष्य का उत्थान होता है और उसके कुल की महिमा निखरती है। दम, त्याग और अप्रमाद अमृतपद हैं (हेलियोदोरस का बेसनगर का अभिलेख)। भगुवा वस्त्र, मौन व्रत, दण्ड-कमण्डल गुमराह करने वाले हैं (शान्ति पर्व, ३२०.४७)। असली दर्शन वह है जो हाथ को सबसे महान् समझता है। जिनके हाथ हैं वही सिद्धार्थ

सजाकर ढोल-ढपड़ों के साथ थान पर ले जाया जाता था, जहाँ लोग इन पर चढ़ावे चढ़ाते थे। आज तक छड़ियों के मेले बड़ी सजधज से किए जाते हैं। खास तौर से किसान इन्द्र की छड़ी को पूजते, तो ग्वाले पर्वत का उत्सव करते (हरिवंश, २.१६.६) और राजा और योद्धा धनुर्मह मनाते और किसी मजबूत धनुष को देवता का दिया हुआ मानकर उस पर बल-परीक्षण करते थे (हरिवंश; २.१०१.६४)। देवियों की पूजा भी काफी चल पड़ी थी। भगलिंगा, माहेश्वरी, प्रजा और मातृका की पर्याप्त चर्चा थी। मगध में जरा और गन्धार से भीमा और हारीती नामक देवियों का बच्चों से गहरा सम्बन्ध था। ऐसा माना जाता था कि नाराज होने पर वे बच्चों को खा जाती हैं और खुश होने पर उनकी रक्षा करती हैं। इसलिए उन्हें रक्त और मांस की बलि से संतुष्ट किया जाता था, किन्तु बाद में दीवार पर उनकी आकृति बनाकर उस पर चावलों की मूंठ मारी जाती थी (सभापर्व १८.३–४)। आजकल भी घर-घर साँझी का मुँह दीवार पर लगाकर बच्चों की रक्षा के लिए उस पर धौक मारी जाती है। इसके अलावा बच्चे के जन्म से छठे दिन षष्ठी की पूजा की जाती थी (वनपर्व, २१८.४७–४६) आजकल इसे छटी कहते हैं। एक अन्य देवी वृद्धिका थी (वनपर्व, २२०.१६)। लोक में इसका नाम बिहाई है। बच्चे की छटी की रात को औरतें इसके गीत गाती हैं। ऐसा माना जाता है कि यह उस रात को बच्चे को देखने आती है। दियों की पूजा, उनके किनारे मेले लगाना, जैसे गंगा यमुना आदि के किनारे अब क लगते हैं, बड़, बरगद, पीपल आदि वृक्षों की जड़ों में पक्के थाँवले बनाकर उनकी ूजा करना और प्रत्येक फल-पत्तों से लदे पेड़ को अर्चनीय समझना (आदिपर्व, १३८. २५) और हाथी, बैल, बन्दर, हंस, गरुड़ आदि को पवित्र मानना तथा भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, गन्धर्व आदि को टोने-टोटकों से वश में रखना उस समय के लोक धर्म के चालू रूप थे। बौद्ध साहित्य में गोव्रत और कुक्कुरव्रत का भी जिक्र आता है जिन्हें करने वाले गौ की तरह सींग बाँध कर चलते या कुत्ते जैसा व्यवहार करते थे।

सब धर्मों की एकता

इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि लोकधर्म उच्चतम आध्यात्मिक व दार्शनिक कैलाश शिखर से निम्नतम अन्धविश्वासों और प्राकृत मान्यताओं के गर्त तक विस्तीर्ण था। किन्तु सत्वदृष्टा ऋषियों और विचारकों ने इसे एकता और समन्वय के सूत्र में बाँध कर वैदिक चिन्तन की परम्परा में पिरो दिया। उन्होंने सिद्ध किया कि एक ही परब्रह्म अपने आपको विभिन्न वस्तुओं, पदार्थों और देवताओं के रूप में प्रकट करता है। स्रष्टा के रूप में वह ब्रह्म है, रक्षक के रूप में विष्णु और संहर्ता के रूप में शिव (वनपर्व, २७२.४७)। इन्द्र, सूर्य, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि वायु, सोम, जो आठों दिशाओं के अधिपति मान लिए गए, और अन्य अनेक देवी देवता भी उसके विविध

रूप हैं (वनपर्व, ३. १८ ; अनुशासनपर्व, १४. ३४६-८)। अतः जो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल जिस रूप में श्रद्धापूर्वक भगवान् का अर्चन करता है वे उसी रूप में उसे स्वीकार करते हैं (भगवद्गीता, ७. २१)।

जीवन की तीन दृष्टियाँ : नियतिवाद, प्रज्ञावाद और अध्यात्मवाद

महाभारत में प्रमुख रूप से जीवन की तीन दृष्टियों का अध्ययन है। ये हैं नियतिवादी, प्रज्ञावादी और अध्यात्मवादी दृष्टियाँ। इनके प्रतिपादक क्रमशः धृतराष्ट्र, विदुर और सनत्सुजात हैं। धृतराष्ट्र कहते हैं कि "किसी बात के होने या न होने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता, सब भाग्य के वश में है, ब्रह्मा सूत में बंधी कठपुतली की तरह सब को नचा रहा है" (उद्योगपर्व, ३९. १)। अतः मनुष्य को बड़े-छोटे ऊँचे-नीचे सबको बराबर समझना चाहिए, किसी प्रकार के परिश्रम या अध्यवसाय के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, झूठ-तूफान, धोखा-धड़ी से बचना चाहिए, काम-धंधे के प्रति अपेक्षा भाव रखना चाहिए और किसी वस्तु की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए (शान्तिपर्व, १७१. २-३)। इस नियतिवाद के अन्य रूप कालवाद (काल ही सब कुछ करता-धरता है), स्वभाववाद (सब वस्तुएँ अपने स्वभाव के अनुकूल अपने आप उत्पन्न होती, विद्यमान रहती और नष्ट होती हैं), भूतवाद (सब कुछ जड़ भौतिक तत्त्वों का परिणाम है), योनिवाद (जन्म और कुल ही पुरुष के पद और प्रतिष्ठा के निर्णायक हैं), यदृच्छावाद (संसार में सब कुछ आकस्मिक और अव्यवस्थित है) आदि भी मनुष्य की अशक्तता को प्रतिपादित करते हैं। किन्तु विदुर जैसे बुद्धि में विश्वास रखने वाले लोग इस सामर्थ्यहीनता से सहमत नहीं हैं उनका मत है कि पराक्रम से अनर्थ को टाला जा सकता है और बुद्धि से भविष्य का सुधार किया जा सकता है (उद्योगपर्व, ३९. ३२–४१)। मनुष्य का लक्षण कर्म है (आश्वमेधिकपर्व, ४३. २०)। यह लोक कर्म-भूमि है (वनपर्व, २६१. ३५)। कर्म को छोड़ बैठना मृत्यु है (उद्योगपर्व, ३९. ३८)। जिसके मन में उत्साह है वही जीवन में महान् बन सकता है (उद्योगपर्व, ३९. ४४)। मित्रों का समाज, धन की प्राप्ति, स्त्री और पुत्र का सुख, समय पर मीठी बातें, इष्टवस्तु की उपलब्धि, अपने वर्ग में मेल से रहना और लोक में सम्मान पाना आनन्द देने वाले हैं। इन्हें पाने के लिए समझ-बूझ कर होशियारी और चतुराई से काम करने से सफलता की राह खुलती है। शिष्टाचार और सदाचार और हृदय की सरलता और भावों की शुद्धि सब तीर्थों में स्नान करने से ज्यादा पुण्यप्रद हैं। इन्हीं से और इनसे सम्बंधित विद्या, तप, नियम, त्याग, दान, अप्रमाद, धृति, शान्ति, सत्यनिष्ठा आदि सद्गुणों से मनुष्य का उत्थान होता है और उसके कुल की महिमा निखरती है। दम, त्याग और अप्रमाद अमृतपद हैं (हेलियोदोरस का वेसनगर का अभिलेख)। भगुवा वस्त्र, मौन व्रत, दण्ड-कमण्डल गुमराह करने वाले हैं (शान्ति पर्व, ३२०.४७)। असली दर्शन वह है जो हाथ को सबसे महान् समझता है। जिनके हाथ हैं वही सिद्धार्थ

हैं। वे संसार में सब कुछ कर सकते हैं और सबसे बड़े बन सकते हैं (शान्तिपर्व, १८०. ११-१२)। अतः सदाचार पर आरूढ़ रहते हुए हाथ चलाकर अपना उत्थान करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। विदुर की इस बुद्धिमानी और ईमानदारी से दुनियादारी चलाने की नीति से जब धृतराष्ट्र टस से मस न हुए तो अध्यात्म विद्या के आचार्य सनत्सुजात को उपदेश के लिए बुलाया गया। उनका मत था कि मृत्यु कोई चीज़ नहीं है। प्रमाद, मोह और क्रोध ही मृत्यु हैं। ये मनुष्य के भीतर से ही पैदा होते हैं। अतः मृत्यु को रोकना मनुष्य के हाथ में है। कामों का हनन करना ही मृत्यु को जीतना है (उद्योगपर्व, ४३. ६)। ऋक्, यजुष्, साम कोई भी वेद अपने आप पाप से रक्षा नहीं कर सकता (उद्योगपर्व, ४३. २)। सत्य ही एक मात्र वेद है जो पाप से बचाता है। इसके अनुसार बारह महाव्रत हैं जो मनुष्य को ब्राह्मण पद का अधिकारी बनाते हैं और बारह महादोष हैं जो उसे नीचता और पतन की ओर ले जाते हैं। ये बारह महाव्रत हैं धर्म, सत्य, दम, तप, यज्ञ, दान, श्रुत, धैर्य, प्रसाद, ह्री, तितिक्षा और अनसूया, और बारह शत्रु हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, शोक, मान, असूया, स्पृहा, दैन्य, घृणा और संग्रहवृत्ति। इस प्रकार प्रज्ञादर्शन और अध्यात्म दर्शन दोनों शील और सदाचार के सूत्र में बंधे हैं।

र्ण-व्यवस्था और सदाचार

महाभारत ने शील और सदाचार को ही सामाजिक व्यवस्था का मूल माना । इसके अनुसार समाज के चार वर्गों का विभाजन गुण और कर्म पर आधारित है। जन्म और जाति से सब मनुष्य समान हैं। या तो उन्हे ब्राह्मण कहिए या शूद्र। ब्रह्मा की संतान होने से सभी को ब्राह्मण कहा जा सकता है। अतः शुरु में सब का रंग सफेद था। बाद में कर्म की विविधता से वर्णों का विभाजन हुआ। जो लोग क्षत्रिय का काम करने लगे वे 'लाल' हो गए जो खेती-बाड़ी में लग गए वे 'पीले' हो गए। जिन्होंने अनाचार और अनृत का रास्ता अपनाया वे 'काले' हो गए (शान्तिपर्व, १८८. ११-१३)। दूसरे मत के अनुसार शुरू में सब शूद्र होते हैं। जब तक बालक का उपनयन नहीं होता और उसे वेद की दीक्षा नहीं दी जाती वह शूद्र रहता है। बाद में शिक्षा, शील और सदाचार से उसके वर्ण का निर्णय होता है (वन पर्व, १८०. ३५)। अजगर के प्रश्न करने पर कि "ब्राह्मण कौन है", युधिष्ठिर कहते हैं कि जिस व्यक्ति में सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, दम और अहिंसा हो वही ब्राह्मण है"। फिर प्रश्न उठता है कि यदि ये गुण शूद्र में भी हों तो क्या वह ब्राह्मण कहलाएगा। उत्तर स्पष्ट है कि शूद्र में यदि ये गुण हों तो वह निश्चय ही ब्राह्मण है और यदि ब्राह्मण इनसे विहीन हो तो वह शूद्र है। वास्तव में जिसमें चरित्र है वह ब्राह्मण है, जिसमें चरित्र नहीं है, वह शूद्र है (वनपर्व, १७७. २६-३३)। इस प्रकार वर्णों की व्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव पर टिकी है न कि जाति, कुल और परम्परा पर। इस विषय में कुछ स्मृतिकारों के रूढ़ विचार केवल

सैद्धान्तिक मतवाद पर खड़े हैं और लोक जीवन की वास्तविकता से कोसों दूर हैं।

आश्रम-प्रणाली

महाभारत चारों आश्रमों में गृहस्थ को सर्वश्रेष्ठ मानता है (शान्तिपर्व, ६६·३५) क्योंकि इसमें रहकर मनुष्य को उद्योग, पराक्रम और अध्यवसाय द्वारा उत्थान का अवसर मिलता है और उसके सामने शील और सदाचार के प्रयोग का क्षेत्र खुलता है। दुनिया को अपनी आँख से देखकर और इसका अनुभव स्वयं प्राप्त कर ही मनुष्य पूरा, पक्का और सर्वदर्शी होता है (उद्योगपर्व, ४३.३६)। दुनिया में रहते हुये ही जो काम कल्याणकारी सिद्ध होता है वह सब से श्रेष्ठ है (वनपर्व, १८३.८८)। इसलिए एक शब्द में यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते हुये युधिष्ठिर कहते हैं कि "कुशलता धर्म का सार है" (वनपर्व, २५८)। जो होशियारी से काम करते हैं और बुद्धि से ठीक काम लेते हैं वे ही समन्वित जीवन के उस सूत्र को पाते हैं जिसका नाम धर्म है। यम को सम्बोधित करती हुई सावित्री कहती है कि "मन, वचन और कर्म से सब प्राणियों के प्रति अद्रोह, अनुग्रह और दान का आचरण करना ही सनातन धर्म है" (वनपर्व, २९७.३५)। यह समाज के नित्य सम्पर्क से सम्भव है न कि घर-बार छोड़कर मनुष्यों से बचने से।

मनुष्य की महानता

इस प्रकार महाभारत उस कर्म, नियम और आचार को धर्म मानता है, जिससे लोक का समन्वय बना रहे और व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक बनकर उन्नति की ओर बढ़ते रहें (उद्योगपर्व, १३७.९)। इसका केन्द्रबिन्दु मनुष्य है। अतः महाभारत स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि "सब से गहरा रहस्य यह है कि मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है" (न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्) (शान्तिपर्व, १८०.१२)। यह मानववाद का महामन्त्र अनेक प्रकार के जाति, दल, देश, क्षेत्र और सम्प्रदाय के भेदों को दूर कर सब मनुष्यों को धर्म और संस्कृति के समान धरातल पर ले आता है।

भगवद्गीता की समन्वय दृष्टि

महाभारत रूपी समुद्र का मथा हुआ अमृत भगवद्गीता में सुरक्षित है। परम्परा के अनुसार कृष्ण ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन का मोह दूर करने के लिए इसका प्रवचन किया, किन्तु वर्तमान रूप में यह किसी चतुर विचारक की रचना है जिसका लक्ष्य सब मतों, दृष्टियों, सिद्धान्तों और पद्धतियों का समन्वय कर सम्पूर्ण सत्य का दर्शन करना था। उसने सांख्य के पुरुष-प्रकृति के द्वित्व को पुरुषोत्तम की परिकल्पना

द्वारा एकत्व में बदल दिया। उसके मतानुसार पुरुषोत्तम विश्व का आदिम बीज और अन्तिम तत्त्व है। किन्तु वह सचेष्ट और गतिशील है। गति की प्रक्रिया में उसके दो रूप हो जाते हैं, परा प्रकृति और अपरा प्रकृति। परा प्रकृत्ति पुरुष या जीव है। अपरा प्रकृति भौतिक जगत का मूलरूप है। इसमें सन्तुलन (सत्व), गति (रज) और स्थिति (तम) समाई हुई है। ये तीन गुण इसे क्षुब्ध करते हैं। इससे यह आठ हिस्सों में बंट जाती है। ये आठ हिस्से हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। इनसे मन, प्राण और भूत के विविध रूप प्रकट होते हैं जिनका उदय-विलय सृष्टि की लीला है। इस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत सभी अपनी-अपनी जगह सही हैं। गीता के कुछ अंश, ४.१०; ३५; ५.७, ६.२८–३१; १४.१९ अद्वैतवादी मालूम होते हैं, तो ५.१६, १४.२, १५.७ से विशिष्टाद्वैत की गंध आती है। ९.४–८ द्वैत की पुष्टि करता सा लगता है और ७.७–१२, ९.२९, ९.५४, १८.५५ प्रश्न का हल पाठक पर छोड़ देते हैं और फलतः इधर-उधर घुमाए जा सकते हैं। इस प्रकार गीता में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का समन्वय मिलता है।

कर्म और फल

पर गीता निरे दर्शन का ग्रन्थ नहीं है, यह तो व्यावहारिक जीवन की निर्देशिका है। अतः इसमें दैनिक व्यवहार का व्यापक और विशद विवेचन है। दुनिया में रहना बड़ा कठिन और जटिल है। इसमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इससे बड़े-बड़े विद्वान भी चकरा जाते हैं (४.१६)। इसलिए आदमी को यह सोचना चाहिए कि जो वह करना चाहता है उसका क्या स्वरूप है, यदि वह इसे किसी और तरह से करे तो क्या होगा और यदि बिल्कुल ही न करे तो क्या बनेगा (४.१७)। अर्थात् उसे काम करते समय यह देख लेना चाहिए कि इसके न करने का क्या फल हो सकता है और कुछ न करते हुये यह सोचना चाहिए कि यदि वह कुछ करे तो क्या होने की सम्भावना है (४.१८)। इस प्रकार बुद्धिपूर्वक विचार करने के अभ्यास से उसे वह दृष्टि मिल जाती है जिससे वह यह निश्चय कर सके कि क्या करना है और क्या नहीं। लेकिन हर स्थिति में वह जो कुछ भी करे कर्तव्य समझ कर करे, उसमें लिप्त न हो।

ज्ञान, भक्ति और कर्म

साधारणतः कर्म के विषय में लोग दो तरह से सोचते हैं। कुछ फल की कामना में लीन होकर काम करते हैं। ये लोग अपना सारा ध्यान साध्य में लगाकर साधन को भूल जाते हैं, मंजिल को सोचते-सोचते रास्ते से भटक जाते हैं, शिखर को ताकते

सीढ़ी पर से फिसल जाते हैं। दूसरे किस्म के वे लोग हैं जो बिल्कुल कर्म से भागना चाहते हैं। उनका विचार है कि जो कुछ अपने आप हो रहा है ठीक है उन्हें हाथ-पैर हिलाने की क्या जरूरत है। ऐसे लोग जिन्दा होते हुये भी कब्र में हैं। अतः इन दोनों सीमाओं को छोड़ कर बीच का रास्ता अपनाना चाहिए। यानी कर्म बराबर करते रहना चाहिए और उसके फल से ध्यान हटा लेना चाहिए। इसे निष्काम कर्म कहते हैं। इसके लिए बुद्धि और श्रद्धा दोनों की जरूरत है। बुद्धि की इसलिये कि इससे चातुर्य और कुशलता पैदा है जिससे कर्म को बेहतर ढंग से किया जा सके (२.५०), और श्रद्धा की इस वास्ते कि इससे संकल्प-विकल्प के बिना पूरी तल्लीनता और स्फूर्ति से मनुष्य कर्म में लग जाता है और फल का ध्यान उसे बार-बार परेशान नहीं करता। बुद्धि और श्रद्धा के प्रयोग से जो दृष्टिकोण बनते हैं उनका नाम ज्ञान और भक्ति है और उनसे समन्वित होकर कर्म ठीक से किया जा सकता है। इस प्रकार गीता ज्ञानमूलक-भक्तिप्रधान-कर्मयोग की शिक्षा देती है। यह इसका सब से महान समन्वय है।

मनुष्य की परिबद्धता और स्वतंत्रता

गीता में मनुष्य की परिबद्धता पर भी काफी विचार किया गया है। प्रकृति का जटिल तंत्र मनुष्य को चारों ओर से जकड़े हुये है। यह विराट् और विकराल रूप धारण किए हुए उसे दबोचे जा रही है। उसकी भयंकर डाढ़ें और नोकीले दाँत उसे चबा रहे हैं (११. २७) और उसकी लपलपाती जीभ आग की लपटों की तरह उसे निगल रही है (११.३०)। जैसे पतंगों के झुण्ड दहकती आग में झुलस कर राख का ढेर हो जाते हैं वैसे ही वह अपने साथी-संगियों, गोती-नातियों के साथ लपक कर उसके मुख का ग्रास बन रहा है (११.२९) इच्छा न रखते हुये भी लोग उसके इशारे पर आपस में लड़-मर कर खत्म हो रहे हैं (११. ३४)। वे चाहते कुछ हैं और होता कुछ और है। अतः क्या उसे प्रकृति का खिलौना कहा जाए? गीता ने उसे निमित्तमात्र बताया है (११. ३३)। किन्तु वह चेतना का केन्द्र है और उसमें अच्छे बुरे की पहचान करने की क्षमता है। इसलिये उसे यह अधिकार है कि वह निमित्तमात्र बने या न बने। दूसरे शब्दों में उसे यह निश्चय करने का अधिकार है कि वह कोई कर्म करे या न करे और करे तो किस तरह करे, भले ही उसके फल में उसका प्रवेश न हो (२.४७)। कर्म से ही फल निकलता है अतः कर्म पर अधिकार होने से बहुत हद तक मनुष्य का फल पर भी काबू है। और जब वह फल को भूल कर, सफलता असफलता का विचार छोड़ कर, सिर्फ कर्म से ही वास्ता रखता है तो स्वतंत्र ही स्वतंत्र है। गीता के सारे सन्देश का सार यह है कि 'जैसी इच्छा हो वैसा करो' (१८. ६३) क्योंकि वह प्रकृति के बन्धन में होते हुए भी स्वतंत्र है।

युद्ध और शान्ति

गीता में एक और महान् समन्वय किया गया है। वह है युद्ध और शान्ति का, हत्या और अहिंसा का, समन्वय। अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना ही गीता का उद्देश्य है। इसके लिए तरह-तरह की युक्तियों का प्रयोग किया है। कभी कृष्ण उसे धिक्कारते हैं कि "तुझ में यह कायरता कहाँ से आई, क्या तुझे यह नपुंसकता शोभा देती है, उठ हृदय की कमजोरी को छोड़कर खड़ा हो" (२. २-३); कहीं उसकी खिल्ली उड़ाते हुए भी कहते हैं कि तू बातें तो पण्डितों जैसी बनाता है लेकिन चिन्ता उन विषयों की करता है जिन्हें सोचना नहीं चाहिए" (२. ११); कहीं लोक निन्दा के प्रस्ताव से उसे उभारते हैं कि "तुझे लोग भगोड़ा कहेंगे जिससे तेरा अपयश होगा जो मरने से भी बुरा है" (२. ३५); कहीं उसे जीतने पर राज्य का और मरने पर स्वर्ग का लोभ देकर उकसाते हैं (२. ३७); कहीं उसके स्वधर्म को चुनौती देते हैं (२. ३१) और फिर कर्मयोग की शिक्षा देते और विराट रूप का दर्शन कराते हैं। सारांश कि हर उपाय से नाटकीय रूप में वे अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु विचित्र बात यह है कि वे साथ ही अहिंसा का भी उपदेश देते हैं। उनके अनुसार अहिंसा, सत्य अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (पीठ पीछे बुराई न करना), दया, अलोलुप्त्व (लोभ न करना), मृदुता, ह्री, सीधापन, तेज, क्षमा, धृति (मजबूती), शौच (पवित्रता), अद्रोह (दोस्ती का भाव) और नातिमानिता (अपने को बड़ा न समझना) अभिजात व्यक्ति के गुण हैं (१६. २-३)। फिर कैसे युद्ध करते हुये मनुष्य शान्ति और अहिंसा पर स्थिर रह सकता है? इसके दो उत्तर हैं। एक तो यह कि सब गुण अनासक्ति (फल के विचार में लिप्त न होना) के फूल—फल हैं। जो अनासक्त है उसे कर्म के दोष नहीं लगते। जिसका मन लगाव-दुराव से दूर है, जिसमें घृणा या मालिन्य नहीं है, वह सदा जल में कमल की तरह निर्लिप्त रहता है। अतः कर्तव्य समझ कर लड़ने से कोई हिंसा नहीं होती क्योंकि हिंसा का संबंध घृणा से है और अपराध मन की कालिमा से पैदा होता है। दूसरे युद्ध धर्म पर आश्रित होकर दोष रहित हो जाता है। अच्छाई की प्रतिष्ठा और बुराई को दूर करने के लिए जो युद्ध किया जाता है वह एक प्रकार की सामाजिक शल्य—चिकित्सा है। जिस प्रकार चिकित्सक रोगी व्यक्ति के दूषित अंग को शल्य से काट देता है उसी तरह धर्मयोद्धा पापी समाज के कलुषित भागों को शस्त्र से नष्ट करता है। दोनों क्रमशः व्यक्ति और समाज के लिए कार्य करते हैं। अतः दोनों पुण्यकृत् हैं और पाप से मुक्त हैं। इस प्रकार विशिष्ट परिस्थिति में युद्ध और शान्ति एक दूसरे के पूरक हैं।

समाज, व्यक्ति और भगवान

यह कहा जा चुका है कि विश्व का संतुलन अपनी आन्तरिक शक्ति से चल रहा है। समाज और संस्कृति के क्षेत्र में इसका रूप 'लोकसंग्रह' कहलाता है। इसके

लिए मर्यादा और व्यवस्था स्थापित करनी पड़ती है। इस विषय में गीता में दो रूप सामने आते हैं। अर्जुन का विचार है कि जाति और कुल समाज की मौलिक इकाइयाँ हैं। जो इनके हित में है वह धर्म है और जो इनके विपरीत है वह अधर्म है (१.४०–४३)। किन्तु कृष्ण का विचार दूसरा है। वे व्यवसाय और अध्यवसाय को समाज की व्यवस्था का आधार मानते हैं। उनके मत से समाज जातियों और कुलों का समूह न होकर व्यवसायों के संगठनों और इनसे उत्पन्न वर्गों और श्रेणियों का समन्वय है। किन्तु इन व्यवसायों, वर्गों और श्रेणियों की नींव मनुष्यों के वैयक्तिक गुणों और कर्मों पर टिकी है (४. १३)। किसी व्यक्ति की प्रकृति और प्रवृत्ति से उसके व्यवसाय और वर्ग का निश्चय होता है, मूलतः ब्राह्मण से चाण्डाल तक सभी व्यक्ति एक जैसे हैं और मानवता के समान धरातल पर स्थित हैं। इन गुण-कर्म परक व्यवसायों और वर्गों के संतुलन से ही समाज की व्यवस्था बनती है। जब यह संतुलन बढ़ता है तो समाज उन्नति करता है जब यह घटता है तो समाज में गिरावट आती है। इसे बनाये रखने के लिए समय-समय पर ऐसी दिव्य आत्माएँ उत्पन्न होती हैं जो इसके पतन को रोकती और इसे सशक्त करती हैं। ये आत्मायें उन्हीं शक्तियों को सँजोती हैं और उन्हीं सिद्धान्तों से संलग्न होती हैं जो विश्व को बांधे हुये हैं। इन्हें 'अवतार' या 'विभूति' कहते हैं। इनमें समन्वय रूपी भगवान का अंश होता है। अतः लोग इनकी पूजा करते हैं। इनके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। गीता के दसवें अध्याय में पेड़, पहाड़, पशु-पक्षी से लगाकर वासुदेव और अर्जुन तक इनके तीस रूपों का उल्लेख है। किन्तु इन सबके पीछे एक ही दैवी शक्ति होती है। इनके माध्यम से निर्गुण पुरुषोत्तम और सगुण देवताओं का सांमजस्य होता है। ज्ञान से बोधगम्य और योग से प्राप्त किया जाने वाला ब्रह्म भक्ति का पात्र और उपासना की मूर्ति भगवान बन जाता है। इस प्रकार सब धर्म, पद्धति और परम्परा संतुलन की उपलब्धि के सूत्र में बंध जाती हैं। सब समाज और संस्कृति को आगे बढ़ाने के प्रयासों का रूप ले लेते हैं। सब शील, चरित्र, आचार, नैष्काम्य और परमार्थ के धरातल पर आकर एक हो जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गीता जगत् और जीवन की विविध प्रवृत्तियों के समन्वय का अद्भुत निदर्शन है। इसमें 'यज्ञ' को कर्म मानकर (यज्ञः कर्म समुद्भवः) 'योग' को कार्य-कौशल सिद्ध कर (योगः कर्मसु कौशलम्), 'संन्यास' को कामनाओं का त्याग बताकर (काम्यानां कर्मणां न्यासः) भारतीय, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं को नई दृष्टि दी गई है। अतः स्पष्ट ही गीता भारतीय जीवन की कुंजी मानी जाती रही है और इस पर टीका किए बिना शंकराचार्य से लेकर महात्मा गांधी तक किसी राष्ट्रीय नेता का काम नहीं चला है।

चौथा अध्याय

बौद्ध शासन का उद्भव और विकास

छठी सदी ई० से पूर्व विचारों की क्रान्ति

इतिहास चुनौतियों की श्रृङ्खला है। जीवन की परिस्थिति मनुष्य को चुनौती देती है और वह उसका समाधान करता है। यह समाधान फिर चुनौती बन जाता है और मनुष्य को नया समाधान ढूँढने पर विवश करता है। मानवता के अरुणोदय पर ऋषियों ने जीवन की अव्यवस्था दूर करने के लिए सामाजिक मर्यादाएँ स्थापित कीं और धार्मिक उपचार निश्चित किए। किन्तु कालान्तर में ये इतने जटिल और रूढ़ हो गए कि इनसे मनुष्य का दम घुटने लगा। अतः इन्हें बदलने की ज़रूरत पड़ी। इसके लिए बड़े-बड़े आन्दोलन चले। ईसा से पहिले की छटी सदी में इन्होंने जोर पकड़ा और संस्कृति की गति को नया मोड़ दिया। उस समय में उद्योग और व्यापार में बड़ी उन्नति हो रही थी। एक नया धनिक वर्ग उभर रहा था और पुराने अभिजात वर्ग—ब्राह्मण और क्षत्रिय–को मात दे रहा था। साथ ही नीचे वर्ण ऊपर उठ रहे थे और लोगों को नए ढंग से सोचने पर मजबूर कर रहे थे। पाली साहित्य में गुलामों के विद्रोह की चर्चाएँ हैं (दीघनिकाय, कस्सप का संस्करण, १, पृ० ५५, विनय पिटक, ४.१८१)। उन्होंने विचारों के जगत् में क्रान्ति पैदा की। एक दास, पूरण कस्सप ने पुण्य और पाप की धारणा का खण्डन कर जीवन के भौतिक रूप पर ज़ोर दिया। एक और छोटे दर्जे के नौकर मंखली गोशाल ने प्राकृतिक नियतिवाद का प्रचार किया। एक अन्य व्यक्ति, अजित केशकम्बली ने, जो शायद कम्बल बनाने का काम करता था, भौतिकवाद की स्थापना की। एक कुबड़े ब्राह्मण ककुद कच्चायन ने सृष्टि के तत्त्वों की अमरता के आधार पर आत्मा, विज्ञान आदि की क्रिया को मिथ्या बताया और संजय बेलट्ठीपुत्र ने हर चीज़ और विचार पर संदेह प्रकट किया। श्वेतकेतु, बाभ्रव्य, दत्तक, चारायण, सुवर्णनाभ और घोटकमुख का विचार था कि इन्द्रिय-जन्य सुख की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। बृहस्पति के अनुयायी अर्थ को ही धर्म और मोक्ष का मूल मानते थे। इनके विचार चौथी सदी ई० पू० में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रकट हुए।

गौतम बुद्ध का जीवन चरित

विचारों और भावनाओं की इस उथल-पुथल में नेपाल की तलहटी के पूर्वी भाग में ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व, कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार ५६६ वर्ष पूर्व, शाक्यों

के एक घराने में बुद्ध का जन्म हुआ। उनका जन्म का नाम गौतम था। उनके पिता शुद्धोदन वहाँ के एक जमीन्दार थे। ये जमीन्दार मिल-जुल कर गणतन्त्र की पद्धति से राज-काज चलाते थे। लेकिन वे कोशल के राजाओं के अधीन थे। उनमें अच्छी सम्पन्नता थी, लेकिन यह कहना गलत है कि वे राजसी ठाठ-बाट से रहते थे। शुद्धोदन की पत्नी अञ्जन शाक्य की कन्या मायादेवी थी। कपिलवस्तु से अपने मायके जाते हुये रास्ते में लुम्बिनी ग्राम के एक शाल के बगीचे में उन्होंने गौतम को जन्म दिया। बेवक्त और बेमौके प्रसव होने से उन्हें बहुत तकलीफ हुई होगी, जिससे सातवें दिन उनका शरीर पूरा हो गया। शुद्धोदन ने उनकी बहन गौतमी से शादी की, और उन्होंने गौतम को बड़े प्रेम से अपने पुत्र नन्द की तरह ही पाला। बड़ा होने पर गौतम को खेल-कूद, अस्त्र-शस्त्र और अन्य कलाओं की शिक्षा दी गई। उन दिनों रिवाज था कि लोग अपनी कन्या उससे ब्याहते थे जो इन विद्याओं की प्रतियोगिता में प्रथम रहे। जब गौतम सोलह वर्ष के हुये और इन विद्याओं में निपुण हो गये तो उन्हें दण्डपाणि शाक्य की पुत्री यशोधरा के विवाह के लिए आयोजित की गई शाक्य लड़कों की प्रतियोगिता में भेजा गया। उन्होंने सब विद्याओं में इतनी प्रवीणता दिखाई कि यशोधरा का विवाह उनके साथ हो गया जिससे उनके एक पुत्र राहुल पैदा हुआ। किन्तु कलाओं और विद्याओं में निपुण होते हुये भी गौतम विचारशील स्वभाव के थे। जब वे अपने पिता के खेत में काम-काज देखने जाते तो अक्सर जामुन के पेड़ की ठण्डी छाया में बैठकर दुनिया की बातों और अच्छे और बुरे कामों पर विचार करते। उन दिनों तरह-तरह के मतों के साधु संन्यासी अपनी-अपनी दृष्टियों से इन विषयों की चर्चा किया करते थे। इससे गौतम की रुचि इस ओर और अधिक बढ़ी होगी। उनके कुटुम्बियों में जो झगड़े-टंटे चलते थे उनमें और उनके पड़ौसी कोलियों में रोहिणी नदी के पानी पर जो छीना-झपटी होती थी और जनपदों और महाजनपदों में जो मारकाट मची थी उसने गौतम के दिमाग की खलबली को और भी बढ़ाया। 'अत्तदण्डसुत्त' में वे स्वयं कहते हैं कि "जैसे सूखे में मछलियाँ छटपटाती हैं ऐसे ही एक दूसरे के विरोध में आदमियों को परेशान देखकर मेरे मन में भय पैदा हुआ, सब लोगों को एक दूसरे के विरुद्ध देखकर मेरा जी ऊब गया, मुझे जगत असार लगने लगा, दिशाएँ कांपती-सी दिखाई देने लगीं, कहीं आश्रय नजर न आया"। अतः उन्होंने घरबार छोड़कर जीवन की समस्या का हल खोजने का निश्चय किया। उनके माँ-बाप सगे-संबंधियों ने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया लेकिन वे अपने निश्चय से टस से मस न हुए और जैसा कि वे स्वयं 'अरियपरियेसनसुत्त' में कहते हैं, अपने रोते माँ-बाप को छोड़ २९ वर्ष की आयु में शिर मुण्डा और भगवे कपड़े पहन घर से चल दिए। बाद में 'महापदानसुत्त' के लेखक ने गप्प चलाई कि गौतम को बूढ़े, बीमार, मुर्दे और सन्यासी के दर्शन से वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने एक रात किसी को बिना कुछ कहे अपने सोते पत्नी-पुत्र को छोड़कर छन्द साईस से कन्थक घोड़ा कसवाया

और उस पर चढ़ कर शहर के बाहर चले गए। तब से यह कथा चल पड़ी लेकिन प्राचीन पाली परम्परा के अनुसार ऐसी कोई घटना नहीं हुई।

घर छोड़ने पर गौतम कालाम के आश्रम में गए। ऐसा एक आश्रम कपिलवस्तु के पास ही था। उस वक्त आडार (आलार) कालाम प्रसिद्ध तत्वविद समझे जाते थे। गौतम ने उनसे भेंट की। उन्होंने उन्हें मन की समाधि का मार्ग बताया जो ध्यान के चार दुर्गों और उनके ऊपर की तीन सीढ़ियों पर को जाता है। किन्तु इससे गौतम को संतोष न हुआ। वे आगे बढ़कर एक और साधक उद्दक रामपुत्त के पास गये। उन्होंने उन्हें आलार कालाम के मार्ग से मिलता-जुलता रास्ता बताया। फर्क इतना ही था कि आलार कालाम के समाधि-मार्ग में सात सीढ़ियाँ थीं और उद्दक रामपुत्त के मार्ग में आठ। गौतम को वहाँ भी क्या मिलना था। वे आगे चल कर राजगृह पहुँचे और तपस्या के लिए अच्छी जगह ढूंढने लगे। पर उन्हे वहाँ के रूखे पर्वत अच्छे न लगे। वे वहाँ से उरुवेला के कस्बे की तरफ आये। उसके पास नेरंजना (वर्तमान-नीलाजन) नदी बहती थी। आस पास का क्षेत्र बड़ा लुभावना था। वहीं एक पेड़ के नीचे बैठकर गौतम ने तप करना शुरू किया। छः साल तक कठोर तप किया। लम्बी-लम्बी समाधियाँ लगाईं। लम्बे-लम्बे उपवास किए। उनका शरीर सूख कर कांटा हो गया। वे स्वयं कहते हैं, "मेरा कूल्हा ऐसा हो गया जैसा ऊँट का पैर, मेरी पसलियाँ ऐसी हो गईं जैसी पुराने कोठे की टेड़ी-मेढ़ी कड़ियाँ, मेरी आँखें ऐसे धँस गईं जैसे गहरे कुएँ में तारा, मेरे सिर की खाल ऐसे चिचुक गई जैसे धूप से मुरझाया हुआ लौका; यदि मैं पेट को पकड़ता तो पसलियाँ हाथ में आ जातीं, यदि मैं शरीर पर हाथ फेरता तो रूवें झड़ पड़ते, यदि मैं टट्टी-पेशाब को उठता तो चकरा कर गिर पड़ता लेकिन मैंने उस दुष्कर कार्य से भी उत्तर-मनुष्य-धर्म न पाया (बोधि राजकुमार सुत्त, मज्झिम निकाय, २. ४५)। अतः उन्होंने खाना-पीना शुरू किया। उनके मन में तरह-तरह के विचार आये उन्हें फिर गृहस्थ की तरफ ले जाने लगे। पर उन्होंने उन सब को दबा दिया। इसे मार विजय कहते हैं। वैशाख पूर्णिमा को दोपहर का भोजन कर, जिसे बाद के लेखकों ने सुजाता का लाया हुआ बताया है, वे नैरंजना में स्नान कर उस के किनारे एक पीपल के पेड़ के नीचे जा बैठे और ध्यान में लग गए। वहीं उसी रात को उन्हें एकदम बोधि प्राप्त हुई, वे बुद्ध हो गए और जिस हल को वे खोज रहे थे, वह मिल गया। एक हफ्ते तक वे उसी पेड़ के तले अपनी नई रोशनी के आनन्द में मस्त रहे। इसके बाद उन्होंने और पेड़ों के नीचे छः सप्ताह बिताये। उस समय उनके मन में यह उधेड़-बुन रही कि अपने ज्ञान का आनन्द अकेले लेते रहें या उसे दूसरों तक पहुँचाएँ। उन्होंने दूसरा निर्णय किया। तपस्सू और मल्लिक नामक व्यापारियों को शिक्षा दी। उसके बाद वे बनारस गये और वहाँ उन्होंने अपना पहिला 'धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त' नामक प्रवचन किया। उसे सुनकर उनके ५ साथी, जो उन्हें भ्रष्ट समझ कर उरुवेला से उनसे अलग हो गए थे, उनके अनुयायी हो गए। वहाँ के

एक सेठ का पुत्र यश और उसके संगी-संबंधी भी उनके मत में सम्मिलित हो गये। इस तरह जल्दी ही उनके मतावलम्बियों की संख्या साठ हो गई। उन्होंने उन्हें सबके सुख और सब के हित के लिए काम करने के लिए सब दिशाओं में फांट दिया। बौद्ध शासन चल पड़ा।

बनारस में वर्षा ऋतु बिताने के बाद बुद्ध उरुवेला की ओर गए। रास्ते में उन्होंने तीस नौजवानों को दीक्षा दी जो किसी वेश्या को खोजते फिरते थे जो उनका माल-मता लेकर चम्पत हो गई थी। उरुवेला पहुँच कर उन्होंने उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप नाम के तीन जटिलों को उनके पाँच सौ, तीन सौ, और दो सौ शिष्यों के साथ प्रव्रजित किया। उन्हें साथ लेकर वे राजगृह आए। राजा बिम्बिसार उनसे मिलने आए, अगले दिन उन्हे भोजन पर बुलाया और वेणुवन दान में दिया। वहीं संजय परिव्राजक के शिष्य सारिपुत्त और मोग्गल्लान २५० परिव्राजकों के साथ उनके संघ में शामिल हुए। एक और प्रसिद्ध भिक्षु महाकाश्यप भी इन्हीं दिनों संघ में आया। ये तीनों उच्च कोटि के प्रचारक सिद्ध हुए।

राजगृह से बुद्ध अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु पहुँचे। किन्तु मूल सर्वास्तिवाद-विनय का कहना है कि पहिले वे अनाथपिण्डक सेठ के बुलाने पर श्रावस्ती (आजकल का सहेठ-महेठ) गए। वहाँ सेठ ने जेत राजकुमार को मुँह माँगे दाम देकर उनके लिए जितनी जमीन खरीदनी थी उतनी ही के ऊपर रुपया बिछाकर, जेतवन खरीदा। इसके बाद वे कपिलवस्तु गए। कुछ भी हो, कपिलवस्तु में जब बुद्ध की पत्नी, पुत्र, पिता, माता और अन्य संबंधी उनसे मिले होंगे और उनके धर्म में शामिल हुए होंगे तो बड़ा द्रावक दृश्य हुआ होगा। उपालि, अनुरुद्ध, महानाम, आनन्द आदि प्रसिद्ध शिष्य उसी समय उनके संघ में आए। कपिलवस्तु से बुद्ध फिर राजगृह आए और वहाँ से वैशाली (आधुनिक बसाढ़) गए। वहाँ लिच्छवियों ने उनका शानदार स्वागत किया। उन दिनों उनका राजगृह और वैशाली आना जाना बना रहा। इसी बीच शाक्यों और कोलियों में सिचाई के पानी पर फिर झगड़ा छिड़ा और बुद्ध उसे निबटाने गये। इधर शुद्धोदन सख्त बीमार हो गए। उनसे मिलने उन्हे कपिलवस्तु जाना पड़ा। वहाँ उनकी मतई महाप्रजापति गौतमी ने भिक्षुणी बनने की जिद की। बुद्ध ने काफी आनाकानी की और वैशाली चले आए, लेकिन आनन्द ने उनकी अनुनय विनय कर उन्हें भिक्षुणी संघ स्थापित करने पर तैयार कर लिया।

उन दिनों राजगृह बुद्ध का केन्द्र था। जब से राजा बिम्बिसार की रानी क्षेमा उनके संघ में मिली थीं तब से उन्हे वहाँ विशेष सुविधा मिलने लगी थी। लेकिन वे वर्षा को छोड़कर बराबर घूमते रहते थे। पूर्व में अंग की नगरी चम्पा (वर्तमान-भागलपुर) से पश्चिम में कुरुदेश (हस्तिनापुर-हरियाणा) के कम्मासदम्भ और थुल्ल-कोट्ठित शहरों तक और उत्तर में कपिलवस्तु से दक्षिण में कौशाम्बी तक उन्होंने निरन्तर यात्रा की। उन्हें उज्जैन से भी बुलावा आया लेकिन वे वहाँ न जा सके।

उनकी ख्याति पश्चिमी भारत में सोपारा तक फैल गई और वहाँ के प्रसिद्ध व्यापारी पूर्ण ने श्रावस्ती में आकर उनसे दीक्षा ली और वापस जाकर धर्म प्रचार किया, किन्तु वे स्वयं उधर नहीं गए। उत्तर-पश्चिम में उनकी तक्षशिला और उससे भी परे तक जाने की मान्यता है लेकिन वे केवल एक बार मथुरा गए और वहाँ से वेरंजा (वैरन्ती) तक पहुँचे। फिर भी उनके जीवन-काल में उनकी ख्याति समस्त उत्तरी भारत में फैल गई।

पैंतालीस वर्ष तक बुद्ध ने अथक यात्रा और कठिन परिश्रम किया। समाज के सभी वर्गों से उनका गहरा सम्पर्क हुआ। बिम्बिसार और प्रसेनजित जैसे राजा, पूर्ण और अनाथपिण्डक जैसे धनी व्यापारी, जीवक कौमारभृत्य जैसे चिकित्सक, सुनिध और वर्षकार जैसे राजकर्मचारी, अंगुलिमाल जैसे डाकू, आम्रपाली जैसी गणिका, चुन्द जैसे कारीगर और अनेकानेक वर्गों और व्यवसायों के लोग उनके अत्यन्त निकट आए। उन्होंने लिच्छवियों का एका देखा तो शाक्यों और कोलियों की फूट भी सही, अजातशत्रु को अपने पिता की हत्या करते हुए सुना तो विडुढभ को शाक्यों पर हमला करते भी देखा, असंख्य नर-नारियों का सत्कार पाया तो कौशाम्बी के भिक्षुओं से अपमान भी सहा और देवदत्त के कठोर प्रहार भी सहन किए। अन्त में उन्होंने अत्यन्त सक्रिय और सृजनशील जीवन विताकर ८० वर्ष की आयु में कुशीनगर में शरीर छोड़ा। उनके पार्थिव अवशेषों पर असंख्य स्तूप बने और उनकी आध्यात्मिक ज्योति मानवता की अन्तरात्मा में लीन हो गई।

गौतम बुद्ध का जीवन-दर्शन

बुद्ध का जीवन-दर्शन उनके अनेक प्रवचनों में संगृहीत है। वे बातचीत करते हुए घरेलू मिसालें देकर गहरी से गहरी बात को समझाने के अभ्यस्त थे। उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी, पर उनके उपदेश उनके शिष्यों को याद रहे और उनके निर्वाण के बाद उन्होंने इन्हें लिपिबद्ध करने की कोशिश की। यद्यपि इन बाद की लिपियों में बहुत कुछ प्रक्षेप आ गया है जिससे असली बात को ढूंढना मुश्किल हो गया है फिर भी कुछ मोटी बातें बची रह गई हैं जिनके आधार पर उनके विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है।

जीवन और जगत् के प्रति व्यावहारिक दृष्टि और दुःख के कारण की खोज

बुद्ध जगत् और जीवन को मान कर चले। वे इस उलझन में नहीं पड़े कि विश्व या मनुष्य अमर हैं या नश्वर, सीमित हैं या असीम, जीव और शरीर एक हैं या अलग, अर्हत् मृत्यु के बाद बना रहता है या उसके साथ नष्ट हो जाता है। जब किसी ने उनसे इन प्रश्नों के उत्तर देने का आग्रह भी किया तो वे मौन रहे या इन्हें बेकार समझ

कर टालते रहे। एक बार जब मालुंक्यापुत्र नाम के भिक्षु ने इनके बारे में उन पर जोर दिया तो वे बोले कि अगर किसी के तीर लग जाए और चिकित्सक उसे निकालने लगे पर घायल यह कहे कि तीर निकालने से पहिले यह बता कि वह कैसा है, किस लकड़ी का बना है, जिसने इसे चलाया है वह कैसी शकल का और किस जाति का है तो वह बातों ही बातों में मर जाएगा क्योंकि वक्त पर तीर न निकल सकेगा। (चूलमालुंक्या सुत्त, मज्झिम; १. ४२६)। उन्होंनें जीवन को, जैसा भी यह है वैसा मान कर, व्यावहारिक दृष्टि से इसकी समस्या की खोज की। उन्होंने देखा कि हर आदमी दुखी है (यह दुःख सत्य कहलाता है)। उन्होंने इसके कारण (दुःख-समुदय) का पता लगाने की कोशिश की। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इसका कारण इच्छा का वह विकृत रूप है जिसे तृष्णा कहते हैं। लेकिन वह यह भी समझ गए कि इसे काबू में किया जा सकता है। (दुःखविरोध पर इसके लिए काम वासनाओं में लिप्त होना और काया को क्लेश देना इन दोनों के बीच का रास्ता (मध्यम प्रतिपत्) अपनाना जरूरी है। यह बीच का रास्ता है ठीक देखना (सम्यक् दृष्टि), ठीक संकल्प करना (सम्यक् संकल्प), ठीक बात बोलना (सम्यक् वचन), ठीक काम करना (सम्यक् कर्म), ठीक तरह से रोटी कमाना (सम्यक् जीविका), ठीक प्रकार का धंधा करना (सम्यक्-व्यायाम), ठीक विचार रखना (सम्यक् स्मृति) और ठीक प्रकार से मन को समन्वित रखना (सम्यक् समाधि)। इन आठ अंगों से बने इस मार्ग (आर्याष्टांगिक मार्ग) पर चलने से जो मन की स्थिति पैदा होती है वही जीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य है (धम्मचक्कपव-त्तनसुत्त, संयुत्त निकाय ५५. २)। इसी का नाम 'निर्वाण' है।

अच्छे बुरे की पहचान

क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है, यह निर्णय करने के लिए यह सोचना जरूरी है कि "जो मैं यह काम करना चाहता हूँ क्या यह मेरे लिए पीड़ादायक तो नहीं होगा और क्या दूसरों के लिए पीड़ादायक तो नहीं होगा, और क्या अपने और पराये दोनों के लिए पीड़ादायक तो नहीं होगा"। जो किसी के लिए पीड़ादायक नहीं है, जिसमें सब को सुख है, वही ठीक काम है, और जो किसी को, अपने को या पराए को, तकलीफ देता है, वह ठीक नहीं है (अम्बलट्ठिकाराहुलोवादसुत्त, मज्झिमनिकाय, २.२.१)। इसकी पहचान के लिये अपने आप देखभाल करने की प्रवृत्ति (प्रत्यवेक्षा) होनी चाहिए। मोटे तौर से कहा जा सकता है कि काम और लोभ (अभिध्या या कमछन्द) द्वेष और हिंसा (व्यापाद), चंचलता और उच्छृङ्खलता (औद्धत्य-कौकृत्य), संदेह और द्विविधा (विचिकित्सा), अकर्मण्यता और आलस्य (स्त्यान-मिद्ध) इस वृत्ति को कमजोर करते हैं (नलकपानसुत्त, मज्झिमनिकाय २.२.८)। ये पाँच नीवरण हैं। उनका उपशम (शमथ) आवश्यक है। इसके लिए प्रज्ञा

या विपश्यना (बुद्धि), शील (सदाचार), समाधि (मन का संतुलन), वीर्य (अशुभ के नाश और शुभ की प्राप्ति के लिए प्रयास) और दृढ़ संकल्प चाहिए (संयुक्त निकाय, १.५३), गोत्र, कुल, परिवार, धन से कुछ नहीं बनता (मज्झिमनिकाय, ३.२६२)।

पंचशील

प्रज्ञा मनुष्य की विवेकशक्ति है और समाधि मन का संतुलन है तो शील व्यावहारिक आचार है। शील पाँच हैं: हिंसा से बचना (प्राणातिपातविरति), चोरी से बचना (अदत्तादानविरति), काम और मिथ्याचार से बचना (काममिथ्याचारविरति), झूठ से बचना (मृषावादविरति), और नशीली चीज़ों और सुस्ती से बचना (सुरामैरेयप्रमादस्थानविरति)। भिक्षुओं के लिए इनमें पाँच आचार और जुड़ जाते हैं: कुसमय भोजन से बचना (अकालभोजनविरति), नाचने-गाने-बजाने से बचना (नृत्यगीतवादित्रविरति), गंध, लेप, शृंगार से बचना (माल्यगंधविलेपनविरति), ऊँचे पलंग आदि पर सोने से बचना (उच्चासनशयनविरति) और सोने चाँदी और धन सम्पत्ति के संग्रह से बचना (जातरूप रजतप्रतिग्रहविरति)।

बुद्धि और धर्म

शील के रास्ते पर चलने के लिए मनुष्य को स्वयं अपनी बुद्धि से काम करना चाहिए। केसपुत्त निगम के कालायों को उपदेश करते हुए बुद्ध कहते हैं—मत तुम श्रुति से, मत परम्परा से, मत शास्त्र की अनुकूलता (पिटक सम्प्रदान) से, मत वक्ता के भव्य रूप और आकार के विचार से, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' इस विश्वास से किसी काम को करो; जब तुम अपने ही आप जानो कि यह धर्म कुशल है या वह धर्म अकुशल है, तब तुम इसे करो और उसे छोड़ो" (केसपुत्तिय सुत्त, अगुत्तरनिकाय, ३.७.५)। धर्म के विषय में उन्होंने कहा कि यह नदी पार करने के लिए नाव के समान है। यदि कोई नदी पार कर नाव को सिर पर उठाकर चलने का विचार करे तो वह मूर्ख है। इसी तरह यदि कोई धर्म को मन की शुद्धि और शील का साधन बनाने के बजाए अन्ध विश्वास के साथ उससे चिमड़ा रहे तो वह अयोग्य है (महातण्हासंखय-सुत्तन्त, मज्झिमनिकाय, १.४.८)। स्वयं अपने विषय में उन्होंने कहा कि जो लोग मुझे सर्वज्ञ मानते हैं वे मेरी निन्दा करते हैं (तेविज्जवच्छगोत्तसुत्त, मज्झिमनिकाय, १.३.१)।

मनुष्य की बुद्धि परीक्षणात्मक होनी चाहिए। उसे किसी के कहे पर पूरा विश्वास न करके अपने आप बात और चीज को परखना चाहिए। एक बार वसिष्ठ से बात करते हुये बुद्ध ने कहा कि जिस ब्रह्मा की तुम बात करते हो क्या उसे तुमने अपनी आँखों से कभी देखा है या उसे दूसरे को दिखा सकते हो ? यदि ऐसा नहीं कर सकते तो तुम

अन्धों की पक्तियों की तरह चल रहे हो और तुम्हारा सारा प्रलाप बेकार है (तेविज्जसुत्त, दीघनिकाय, १.१३)। निर्ग्रन्थ (जैन) साधुओं से उनका यही झगड़ा था कि वे या तो पहिले जन्म की बात करते थे या अगले जन्म की सोचते थे जिसे कोई अपनी आँख से नहीं देख सकता। उनका कहना था कि पिछले अगले जन्म का बखेड़ा छोड़ कर हमें यहीं इसी जन्म में कुशल कर्म करने हैं और अकुशल कर्म से बचना है (चूलदुक्खखन्धसुत्त, मज्झिमनिकाय, १.२.४.)।

कर्म का चैतसिक रूप

कर्म के दो रूप हैं, भौतिक और शारीरिक तथा मानसिक और चैतसिक। भौतिक और शारीरिक कर्म तो प्राकृतिक रूप से चलता ही रहता है। जन्म-जरा-मरण की प्रक्रिया अक्षुण्ण बनी रहती है। किन्तु इसकी मानसिक आवृति या चित्त के चित्रपट पर इसका बिम्ब बहुत कुछ मनुष्य के अधिकार में है। बुद्ध ने कर्म के इसी रूप पर जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि मैं चेतना को ही कर्म कहता हूँ (अत्थसालिनी, पृ० ८८)। इसी भाव को लेकर बुद्धघोष ने लिखा है कि कुशल और अकुशल की चेतना ही कर्म है (विसुद्धिमग्ग, भाग २, पृ० ६१४)। अतः मोग्गलिपुत्त तिस्स इस बात का जोर से निषेध करते हैं कि बिना इरादे के यदि किसी को हानि पहुँच जाए तो उससे हिंसा का पाप लगता है (कथावत्थु, २०.१)।

संसार के अन्त का अर्थ

कर्म के मानसिक रूप की दृष्टि से ही यह कहा गया है कि जन्म-मरण समाप्त किया जा सकता है और रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान के पाँच स्कन्धों (समूहों) से बने संसार का अन्त करना संभव है। वास्तव में अविद्या (कामना और स्वार्थ की दृष्टि) के चश्मे से जो इनका रूप दिखाई दे रहा है वह उस चश्मे को उतार कर खत्म किया जा सकता है। क्योंकि इससे कष्ट होता है इसलिए इसकी ज्यादा चर्चा की गई है। अपने आप में दुनिया का जो रूप है वह तो रहता ही आया है और सदा रहेगा और उसके एक हिस्से की हैसियत से मनुष्य उसके साथ नत्थी रहेगा।

संसार का स्वरूप और कार्य-कारण की प्रक्रिया

संसार अनेक तत्वों का समूह है। इन्हें पाँच स्कन्धों में बाँटा जाता है। इनको रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान कहते हैं। रूप के दो भाग हैं भाव (नाम) और भूतपिण्ड (रूप)। ये दोनों साथ रहते हैं। 'माइण्ड' और 'मैटर' का सहवर्तित्व है। किन्तु इनके कार्य-कलाप कार्य-कारण की परम्परा के रूप में चलते हैं। हर वस्तु किसी का कार्य और किसी का कारण होती है। वह किसी दूसरी वस्तु की

समाप्ति पर उत्पन्न होती है और स्वयं समाप्त होकर किसी और को उत्पन्न करती है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसका एक पक्ष क्षणिकता है और दूसरा सन्तति है जिससे स्थायित्व दीखता है। किसी बात को समझने के लिए उसके पूर्वापर के सम्बन्ध को जानना जरूरी है। दुःख का निरोध भी इसके कारण यानी तृष्णा के निरोध से सम्भव हैं। तृष्णा उन बातों के ठीक करने से दूर हो सकती है जिनसे इसकी उत्पत्ति होती है, जैसे अनुचित देखना, सोचना, करना आदि। इसके लिए ठीक देखना, सोचना, करना आदि अष्टांगिक मार्ग आवश्यक है। इस प्रकार बुद्ध ने प्राकृतिक नियम को नैतिक आचार के साथ नत्थी किया।

बुद्ध के सामाजिक विचार

बुद्ध जाति-पाँति के बड़े विरोधी थे। कर्म से ही मनुष्य को छोटा था बड़ा मानते थे। उन्हें गुलामी की प्रथा भी बुरी लगती थी। वे बेकारी को अभिशाप समझते थे और हर व्यक्ति को धंधे में लगाए रखना अच्छे राज्य का लक्षण मानते थे। वे राज-शासन के हामी थे और सारी भूमि को एक राजा के अधीन देखना चाहते थे लेकिन उनकी दृष्टि में आदर्श राजा वह था जो बिना दण्ड और शस्त्र के प्रयोग के केवल नीति और धर्म से शासन चलाए।

बुद्ध के बाद उपासकों और भिक्षुओं का संघर्ष

बुद्ध के लिए भिक्षु और गृहपति में मूलतः कोई अन्तर नहीं था यद्यपि वे समझते थे कि भिक्षु के लिए प्रज्ञा-शील-समाधि का मार्ग सरल है और गृहपति के लिए कठिन। उनके विचार से दोनों को निर्वाण और अर्हत्त्व का अधिकार है (मज्झिम, १, पृ० ४६३; २, पृ० १९७, संयुत्त, ५, पृ० ४१०)। बुद्धघोष ने भिक्खु शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है। किन्तु बुद्ध के निधन के पश्चात् जब भिक्षुओं ने राजगृह में प्रथम संगीति की तो उन्होंने बौद्धशासन पर भिक्षुत्व का गहरा रंग चढ़ाया। साथ ही उन्होंने भिक्षुओं के अनुशासन में कठोरता पैदा की। पालि विनय पिटक में इसकी झाँकी मिलती है। यद्यपि संघ का कोई मुखिया नहीं था, आवास में रहने वाले सब भिक्षु बराबर थे और गणतंत्रों की पद्धति से प्रस्तावों (मत्ति) पर विचार करते और गुप्त मतदान (सलाका) द्वारा बहुमत से उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करते थे, उन्हें हर पन्द्रहवें दिन 'उपोसथ' में अपनी अपराध संहिता (पातिमोक्ख) पढ़नी और उसके अनुसार अपने अपराध स्वीकार करने पड़ते थे और वर्षा-वास की समाप्ति पर 'पवारणा' के समय भरी सभा में सब भिक्षुओं से पूछना पड़ता था कि क्या उन्होंने उनकी कोई त्रुटि पाई है। इस तरह भिक्षु का जीवन कठोर नियमों से जकड़ा हुआ था। स्वभावतः बहुत से भिक्षु इसे पसन्द नहीं करते थे

इसलिए जब राजगृह में स्थविरों की पहिली बैठक हुई तो बहुत से भिक्षुओं ने इससे ठिठक कर राजगृह के पास अपनी अलग सभा की, जिसका सभापति कदाचित् बाष्प था। एक से स्थविरवादी और दूसरी से महासांघिक परम्परा का विकास हुआ। जैसे-जैसे समय बीतता गया इन दोनों की नोक-झोंक बढ़ती गई। बुद्ध के निधन से सौ वर्ष पूरे होने तक वैशाली के भिक्षुओं ने 'दस आचारों' पर चलना शुरू किया जिनमें जमीन-जायदाद रखना भी सम्मिलित था। अत: यश आदि भिक्षुओं ने वैशाली में दूसरी संगीति कर इन विद्रोहियों को निकाल दिया। उन्होंने भी चुनौती स्वीकार की और अपनी अलग महासंगीति करके अपने ढंग से शास्त्र का सम्पादन किया (दीपवंस, ५.३०-९)। इस झगड़े-टंटे में मथुरा के एक व्यापारी के लड़के महादेव ने पाटलिपुत्र जाकर अपनी 'पाँच स्थापनाएँ' प्रस्तुत कीं कि भिक्षुओं का शरीर यौन दृष्टि से अपवित्र रहता है, उन्हें किसी चीज का ज्ञान नहीं होता, उनका मन सन्देह से भरा रहता है, वे स्वयं आध्यात्मिक उन्नति के अयोग्य हैं और प्रत्येक मनुष्य सांसारिक दु:खों की प्रतीति कर ऊपर उठने और अर्हत्त्व और निर्वाण तक पहुँचने की सामर्थ्य रखता है। महासांघिक, पूर्वशैल, बहुश्रुतीय, चेतिय और हैमवत सम्प्रदायों ने ये बातें मानलीं और उत्तरापथक मत के लोगों ने स्पष्ट घोषणा की कि हर उपासक सांसारिक जीवन बिताता हुआ भी अर्हत्त्व के योग्य है क्योंकि यह केवल भिक्षुओं की बपौती नहीं है (कथावत्थु, १, पृ० २६७)। इस खटपट के पीछे उपासकों और भिक्षुओं का संघर्ष छिपा था। इस परिस्थिति में मौर्य सम्राट प्रियदर्शी अशोक सिंहासन पर आए।

प्रियदर्शी अशोक की जीवनचर्या

प्रियदर्शी अशोक मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के पौत्र और बिन्दुसार के पुत्र थे। उन्हें भारत का विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला। २७२ ई० पू० में वे गद्दी पर बैठे और २६८ ई० पू० में उनका अभिषेक हुआ। अभिषेक के ८ वर्ष बाद उन्होंने कलिंग को विजय किया। इस युद्ध में एक लाख आदमी मरे, डेढ़ लाख बेघरबार हुए और इससे कई गुने लापता हुए। इस भयानक मारकाट से प्रियदर्शी को बड़ा धक्का लगा और उन्होंने हिंसा को छोड़ कर धर्म का राज्य स्थापित करने का विचार किया। वे बौद्ध उपासक बन गए और साल भर बाद जोर-शोर से जनता की भलाई के कामों में जुट गए। अभिषेक के दसवें वर्ष उन्होंने बुद्ध की बोधि-प्राप्ति के स्थल के लिए प्रस्थान किया और रास्ते में वृद्धों और भिक्षुओं को काफी दान दिया। उसी वर्ष उन्होंने कन्धार में यूनानी और अरामी भाषाओं में अपना सबसे पहिला लेख खुदवाया जिसमें घोषणा की गई कि उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया है, उनके राज्य में शिकारी और मछुओं ने जीव-हिंसा बन्द कर दी है और उनकी प्रजा ने माँ बाप और बुजुर्गों की आज्ञा मानने, संयम से रहने और अच्छी तरह जीवन बिताने का संकल्प किया है। बारहवें वर्ष उन्होंने अपने कर्मचारियों को हर पाँचवें साल धर्म के प्रचार के लिए

दौरे करने का आदेश दिया और पत्थरों पर धर्म-लिपि खुदवाने का हुक्म जारी किया। उसी या उससे अगले वर्ष उन्होंने एशिया और यूनानी जगत् में जन-कल्याण के कार्य के लिए अपने दूत भेजे। तेरहवें वर्ष योन, कम्बोज, गन्धार आदि सीमान्त क्षेत्रों में धार्मिक लोगों की देख-रेख के लिए धर्म महाभाग नियुक्त किए और चौदहवें वर्ष चौदह प्रधान शिलालेख चट्टानों पर खुदवाए। बीसवें वर्ष उन्होंने बुद्ध की जन्म-भूमि लुम्बिनी की यात्रा की और वहाँ के लोगों पर से अबवाब (बलि) माफ कर दिया। छब्बीसवें वर्ष उन्होंने लाटों पर छः शिलालेखों को खुदवाया और सत्ताइसवें वर्ष देहली-टोपरा की लाट पर सातवाँ लेख खुदवाया। छत्तीसवें वर्ष २३६ ई० पू० में उन्होंने अपनी पार्थिव लीला पूरी की।

प्रियदर्शी अशोक का धर्म

प्रियदर्शी अशोक उन कम राजाओं में हैं जो जनता की भलाई को अपना धर्म समझते हैं और अपनी हर सुख सुविधा का इसके लिए त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं। वे कहते हैं कि हर समय खाते, खेलते, सोते और सैर करते और हर जगह महल में, खेत में, बाग में या सवारी पर दूतों को मुझे राज-काज और लोगों के हाल-चाल की खबर देनी चाहिए। उनका उसूल काम करना और मामले निबटाना था। वे चाहते थे कि उनके घर के लोग और कर्मचारी भी उनके कदमों पर चलें और जनता की भलाई में कोई कोशिश न उठा रखें। उन्होंने जगह-जगह सड़कों पर पेड़ लगवाए, सराएँ बनवाईं, कुएँ और तालाब खुदवाए, आदमियों और जानवरों के इलाज की व्यवस्था की और जहाँ कहीं से भी संभव हुआ जड़ी-बूटियाँ मंगवाकर उनके फार्म खुलवाए। साथ ही उन्होंने लोगों के आचार-विचार सुधारने की जबरदस्त कोशिश की और अपने महान् राज्य के सारे साधनों को इस ओर लगाया। उनके गवर्नर और कमिश्नर और बड़े-छोटे सब अफसर धर्म का उपदेश देने और लोगों की भलाई के कामों की देख-रेख करने में मन से जुट गए। कन्धार और शाहबाज-गढ़ी से येर्रागुडी और राजुल मण्डागिरि तक और गिरनार और सोपारा से धौली और जौगड़ तक उनकी शिक्षाएँ अनेक चट्टानों और लाटों पर लोगों के पढ़ने के लिए उनकी अपनी-अपनी लिपियों और बोलियों में खुदवाई गईं। इतनी बड़ी मात्रा में इतना महान् प्रत्न शायद ही कहीं और हुआ हो।

प्रियदर्शी अशोक की शिक्षा यह थी कि पाप से बचो और अच्छे काम करो। होंने जीव-हिंसा से बचने पर, सचाई और ईमानदारी से रहने पर बहुत बल दिया। साथ ही उन्होंने माँ-बाप की आज्ञा मानने, बड़े-बूढ़ों का आदर करने, मित्रों, साथियों और संबंधियों से स्नेह और नम्रता का व्यवहार करने, श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति उदार रहने और गरीबों, बूढ़ों, कमजोरों, नौकरों और गुलामों से अच्छाई बरतने का निर्देश दिया। उनके विचार से ये बातें शादी-गमी और जन्म-जात के मौकों पर किए

जाने वाले रस्म रिवाज से बहुत ज्यादा बेहतर थे। इनसे इस दुनिया में और दूसरे लोक में दोनों जगह भलाई मिलती है। किन्तु इनमें सब से विशेष धर्म का दान और उसकी शिक्षा है।

प्रियदर्शी अशोक ने गुणों और अवगुणों पर भी यथेष्ठ विचार किया। उनके मतानुसार मात्सर्य, क्रोध, क्रूरता, आवेग, अभिनिवेश और आलस्य को दूर कर संयम, संतुलन, माधुर्य, दया, शौच और सत्य को अपनाना चाहिए। अपने अन्तस्तल को टटोलना, हर मत और सम्प्रदाय का आदर करना, अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा न करना और दूसरों की अच्छी बातें ग्रहण करना जरूरी है। हर स्थिति में अधिक से अधिक पराक्रम और उत्साह अपेक्षित हैं।

प्रियदर्शी अशोक और बौद्ध धर्म

प्रियदर्शी अशोक की ये सब शिक्षाएँ बौद्ध ग्रन्थों में मिलती हैं। इनसे मिलते-जुलते भाव धम्मपद, सुत्तनिपात, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तरनिकायों के गहपति वग्गों और दीघनिकाय के लक्खण और सिग्यलोवाद आदि सुत्तों में बिखरे पड़े हैं लेकिन वे इधर-उधर की सामग्री, भिक्षुओं के आचार और हर विषय को गणित की तरह गिनने-गिनाने की प्रवृत्ति में खो से गए हैं। लगता है अशोक के सामने मागध की भाषा में कोई बौद्ध निकाय था जिसमें इन सब बातों को ढंग और क्रम से रखा गया था। इसी में से कुछ अंशों का उल्लेख उन्होंने भाब्रा के लेख में किया है। यदि इन्हें वर्तमान पालि निकाय से मिलाया जाए तो बहुत से शीर्षकों में अन्तर दीखता है और 'विनय समुक्कस्से' और 'अलिय-वसाणि' की तो ठीक से पहचान भी नहीं हो पाती। अतः लगता है कि अशोक द्वारा प्रयुक्त मागधी निकाय अब लुप्त हो गया है। किन्तु उस समय वह मौजूद था, और अशोक उसे अन्य सब सम्प्रदायों के निकायों की तुलना में प्रामाणिक मानते थे। और उन्होंने उसका सार अपने अभिलेखों द्वारा प्रज्ञापित कराया। इस निकाय में जन सामान्य के लिए नैतिक शिक्षाएँ थी और भिक्षुओं और उपासकों सब को उन पर चलने का उपदेश किया गया था। अतः इन शिक्षाओं को बौद्ध शासन का मूलरूप समझा जा सकता है।

प्रायः सभी बौद्ध सम्प्रदाय अशोक को अपनी-अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हैं। स्थविरवादी, जिन्होंने उनके शासन काल में पाटलिपुत्र में तीसरी संगीति की थी, उन्हें अपने मत का अनुयायी मानते हैं और कहते हैं कि उन्होंने देश-विदेश में उसके प्रचार के लिए भिक्षु भेजे और लंका में स्वयं अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भेजा, किन्तु यह सब कल्पना मालूम होती है क्योंकि उनके अभिलेखों में इनकी कोई चर्चा नहीं है। अशोकावदान के सम्पादक कहते हैं कि उन्होंने अपना सारा राज्य भिक्षु संघ को देने की ठान ली थी लेकिन सम्प्रति ने ऐसा न होने दिया। यह भी बेकार सी बात लगती है क्योंकि अभिलेखों से प्रकट होता है कि अशोक भिक्षुओं के आचार

से विशेष रूप से उनकी आपसी भेदभाव की आदत से, अप्रसन्न थे। कौशाम्बी, साँची और सारनाथ के अभिलेखों में उन्होंने भिक्षुओं की संघभेद की प्रवृत्ति की निन्दा की और तोड़-फोड़ करने वाले भिक्षुओं के चीवर उतरवाने की धमकी दी। यह महत्व की बात है कि एक उपासक ने भिक्षुओं को अपनी बात मानने पर विवश किया जिससे सिद्ध होता है कि उपासक का मान भिक्षु से कम नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह विचार महासांघिकों में जोर पकड़ रहा था और बाद में महायान के रूप में मुखरित हुआ।

मौर्य कला

यहाँ अशोककालीन कला के बारे में भी कुछ कहना उचित है। उनके युग में भारतीय कला का निखरा रूप सब से पहिले सामने आता है। इस कला के दो विभाग हैं, महाकाय यक्षों और यक्षियों की मूर्तियाँ और सपिण्ड पत्थर की लाटें, उनके शीर्ष, जंगले, स्तूप, चैत्य आदि। यक्षों और यक्षियों की मूर्तियाँ शक्ति और विशालता के पुंजीभूत रूप हैं। चिकनी चमकदार लाटों के ऊँचे शीर्ष साम्राज्य के दिव्य गौरव के प्रतीक हैं। खास तौर से सारनाथ की लाट का शीर्ष बेजोड़ है। इसमें उलटे कमल पर टिके फलक पर हाथी, घोड़ा, साण्ड और शेर भागते दिखाए गए हैं। उनके बीच-बीच में चार चक्र हैं। ऐसा लगता है कि सारा राजतंत्र और प्रकृति-विधान धर्म के उद्देश्य को लेकर गतिमान है। फलक के ऊपर चार दहाडते हुए बलिष्ट शेर बनाए गए हैं। ये साम्राज्य की प्रभुसत्ता और चक्रवर्तित्व के परिचायक हैं। इनके ऊपर एक बड़ा चक्र था जो अब टूट गया है। यह चक्र सक्रिय और गतिशील धर्म को प्रकट करता है। इस प्रकार इस शीर्ष से प्रकट होता है कि मौर्यों की महान् और शक्तिशालिनी राज्यश्री धर्म की प्रेरणा से लोकरंजन में रत थी। साथ ही इससे अशोक का रूप भी निखरता है जिसमें चक्रवर्ती और योगी के आदर्श मिल कर एक हो गए थे। इसके अतिरिक्त यह बुद्ध-मूर्ति का पूर्व रूप है, शेर सिंहासन के प्रतीक हैं और चक्र बुद्ध का। बाद में इसी तरह बुद्ध को शेरों से बने आसन पर बैठे अंकित किया जाता था। इस प्रकार यह शीर्ष मौर्य साम्राज्य, बुद्ध और अशोक तीनों के व्यक्तित्व को प्रकट करता है और उनकी समान विशेषताओं को मूर्त रूप देता है। शक्ति के गतिमान और सुनियंत्रित रूप की ऐसी अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार अशोक की लम्बी चमकीली लाटें ईरानी नमूने का भारतीयकरण हैं और उस युग की उच्चता और भव्यता की घोषणा करती हैं। सांची और भरहुत के स्तूप यद्यपि बाद में पूरे हुए, फिर भी वे इस युग की सृजन-क्रिया के पूरक अंग ही हैं। भीतर का विशाल स्तूप, उसके चारों ओर सपिण्ड पत्थरों के जंगले और तोरण, और उन पर खुदे फूल पत्तियों के वातावरण में पशु-पक्षियों से घिरे गाते-बजाते आनन्द करते हुए युवक-मिथुन, यक्ष नाग और देवता समस्त विश्व को एकत्र करते से प्रतीत होते हैं। धौली में चट्टान को तराशकर बनाया

गया हाथी मनुष्य द्वारा प्रकृति को साधने के असीम साहस का साक्ष्य देता है। मौर्य कला में दृढ़ता और उच्चता, शक्ति और ओज, विस्तार और विश्वास है। यह अशोक के जीवन की पूरी तस्वीर है।

बौद्ध धर्म का नया रुख और बुद्ध की मूर्ति का रिवाज

अशोक के प्रयत्न से बौद्ध शासन समूचे भारत और इसके बाहर के देश में फैल गया। असंख्य लोग इसके अनुयायी हो गए। लेकिन साथ ही साथ सम्प्रदायों का भेद भी बढ़ता रहा। ईसवी सन् की शुरुआत के आस-पास यह भेद हीनयान और महायान के रूप में प्रकट हुआ। उन दिनों एक तो भक्ति प्रधान भागवत धर्म की धूम मची थी दूसरे यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि बाहरी लोग नए आचार-विचार लेकर देश में दाखिल हो रहे थे। इनके संयोग से बौद्ध शासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सब से खास बात यह हुई कि बुद्ध को मूर्ति के रूप में पूजने का रिवाज बढ़ा। बुद्ध अपनी पूजा तो क्या करवाते अपने को सर्वज्ञ कहलाना भी बुरा समझते थे। किन्तु उनके अनुयायी उनके मानव रूप से कब संतुष्ट होने वाले थे। उन्होंने उन्हें लोकोत्तर गुणों से मण्डित करना शुरू किया। भागवत और यूनानी प्रभाव ने इस प्रवृत्ति को और भी प्रेरणा दी। फलतः ईसा के जन्म के आस-पास उत्तरी भारत में गन्धार और मथुरा में स्वतंत्र शैलियों से बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। यह फैसला पहली ईसवी सदी में (७८ ई०) में कनिष्क के गद्दी पर बैठते ही किया गया। इसके दो वर्ष बाद ८० ई० में कौशाम्बी में बोधिसत्व की मूर्ति बनाई गई और अगले साल सारनाथ में ऐसी ही मूर्ति खड़ी की गई। इनमें महापुरुष, चक्रवर्ती और योगी के लोकमान्य आदर्शों का समावेश किया गया। इनका नमूना यक्षों की मूर्तियों से लिया गया। बाद में आभूषणों को हटा कर इसी नमूने पर बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। इस तरह बुद्ध की पूजा के प्रचार से बौद्ध-धर्म ने नया रंग पकड़ा। यहाँ महायान की संक्षिप्त चर्चा करने का विचार है।

महायान धर्म और बोधिसत्त्व चर्या

'महायान' का अर्थ है 'बड़ी गाड़ी' जिससे ज्यादा प्राणियों को निर्वाण-सुख मिल सके। इसके मुकाबले में पुराने बौद्ध-धर्म को हीनयान यानी 'छोटी गाड़ी' कहते थे क्योंकि इससे थोड़े व्यक्ति ही यह सुख प्राप्त कर सकते थे। महायान सब आदमियों, खास तौर से गृहस्थियों, के लिए खुला था। इसमें भिक्षुओं का विशेष महत्व नहीं था। 'राष्ट्रपाल परिपृच्छा' जैसे ग्रन्थों में तो उनकी खुली खिल्ली उड़ाई गई थी। सब सूत्रों में 'कुलपुत्रों' और 'कुल पुत्रियों' को सम्बोधित किया गया था। प्रत्येक 'कुलपुत्र' बोधिचर्या से अर्थात् करुणा, मुदिता, मैत्री और अपेक्षा के आचरण द्वारा या दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छः पारमिताओं की साधना द्वारा बुद्धत्व के मार्ग

पर चल सकता है। किन्तु उसे बुद्ध बनने में रुचि नहीं है। जब वह बुद्धत्व के दरवाजे पर पहुँचता है तो ठिठक कर पीछे लौट आता है। उसे लगता है कि उसके अकेले बुद्धत्व प्राप्त करने का कोई महत्व नहीं है जब तक उसके साथी-संगी संसार के दुखों और कष्टों में उलझे पड़े हैं। वह समझता है कि उनकी सेवा में जो सुख है वह बुद्धत्व के सुख से बेहतर है; दूसरों की भलाई करना ही अपने को ऊपर उठाना है; दूसरों के लिए अपना सर्वस्व त्याग करना ही निर्वाण है (सर्वत्यागश्च निर्वाणम्)। अतः वह कामना करता है कि मैं वह औषधि बन जाऊँ जो रोगियों के तड़पते शरीरों में पहुँच कर उनकी व्यथा दूर करे, मैं वह भोजन बन जाऊँ जो भूखों के पेटों में जाकर उनकी क्षुधा मिटाए, मैं वह पेय बन जाऊँ जो प्यासों के प्राणों की रक्षा करे, मैं वह वसु बन जाऊँ जो नंगों को गर्मी और सर्दी से बचाए, मैं वह धन बन जाऊँ जो दरिद्रों की आवश्यकताओं को पूरी कर उनके जीवन में सुख की हिलोर पैदा करे; (शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार ३. ७–९)। मैंने जो कुछ पुण्य प्राप्त किया है उससे सब प्राणियों के दुःखों का नाश हो और मेरे पास पिछला अगला जो कुछ भी है वह सब सत्त्वों की अर्थ-सिद्धि के लिए प्रयुक्त हो (बोधिचर्यावतार, ३. ६, १०)। इस कामना में जो समस्त प्राणिमात्र के प्रति महा-करुणा का भाव है उसकी प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य है, इसके लिए प्रयत्नशील मनुष्य बोधिसत्त्व कहलाता है। यही उसकी चर्या का आरम्भ और अधिष्ठान है (बोधिचर्या-वतारपंजिका, पृ० ४८७)। इसी में सब बुद्ध धर्म सन्निहित है। यही महायान का सार है।

करुणा और प्रज्ञा का योग

ऊपर जिस बोधिसत्त्व चर्या की चर्चा की गई है उसका एक अंग करुणा है तो दूसरा प्रज्ञा। करुणा से लोक सेवा और परोपकार का भाव पैदा होता है तो प्रज्ञा (ज्ञान) से संसार के वास्तविक रूप की अनुभूति और इसके आन्तरिक मर्म का साक्षात्कार होता है। अतः मनुष्य को दूसरों की सेवा करने के साथ-साथ ज्ञानभी प्राप्त करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, समझ-बूझ कर, न कि अन्धविश्वास से, अपने को दूसरों की भलाई में लगाना चाहिए। इस दृष्टि से महायान ने एक ओर जाति, देश, सम्प्रदाय के विचार से ऊपर उठकर सार्वजनिक और सार्वभौम मानवता का आदर्श प्रस्तुत किया और दूसरी ओर एक गम्भीर और मर्म भेदी दर्शन का विकास कर जगत् और जीवन की गुत्थी को सुलझाने का महान् प्रयास किया और ऐसे हल निकाले जो हमेशा के लिए सही हैं। इनकी ओर किंचित् ध्यान देना आवश्यक है। किन्तु यह विषय इतना लम्बा-चौड़ा और गंभीर है कि यहाँ इसके कुछ ही पक्षों की ओर इशारा किया जा सकता है। सुविधा के लिए हम कुछ प्रमुख दार्शनिकों के विचारों पर दृष्टि डालेंगे।

नागार्जुन का सापेक्षता का सिद्धान्त

महायान दार्शनिकों में नागार्जुन अग्रगण्य है। ये कनिष्क के समकालीन थे। उनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ परन्तु वे काश्मीर में काफी समय रहे। वे मूलतः

ज्योतिष, आयुर्वेद और रसायन शास्त्र, के पण्डित थे । उनकी वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण लोग उन्हें करामाती समझते थे । वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप उन्होंने सापेक्षता के सिद्धान्त (थियरी ऑव रिलेटिविटी) का प्रतिपादन किया और इसे 'शून्यवाद' का नाम दिया । 'शून्य' उनके सिद्धान्त का परिभाषिक शब्द हैं । इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि चूंकि प्रत्येक वस्तु किसी कारण से बनी है (प्रतीत्य समुत्पन्न है) इसलिए वह शून्य है (माध्यमिक सूत्र, २४.१९) । अर्थात् वस्तुओं का कारणों से निष्पन्न होना और स्वयं अन्य वस्तुओं के कारण बनना इस बात को सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं वरन् सापेक्ष है । इसका अभिप्राय यह है कि वे भाव व अभाव के बीच की स्थिति में हैं । न यह कहा जा सकता है कि वे नहीं हैं । इसी कारण इस सिद्धान्त को माध्यमिक दर्शन कहा जाता है । नागार्जुन ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें 'माध्यमिक कारिका' सबसे प्रसिद्ध है ।

असंग का विज्ञानवाद

नागार्जुन की दृष्टि को मैत्रेयनाथ और उनके शिष्य असंग ने अपने ग्रंथ 'महायान सूत्रालंकार' में नया रूप दिया । असंग का जन्म चौथी सदी में पेशावर के कौशिक ब्राह्मणों के परिवार में हुआ । ये तीन भाई थे । इनके छोटे भाई वसुबन्धु बौद्ध-दर्शन की महान् विभूति थे । उनके बारे में आगे लिखा जाएगा । असंग ने सिद्ध किया कि बाहरी दुनिया हमारे चित्त की उपज है । चित्त में अनेक विचार भरे पड़े हैं जो समय-समय पर बाहरी दुनिया की चीजों का रूप लेते हैं । यही कारण है कि हर व्यक्ति की बाहरी दुनिया की परिकल्पना अलग है । फिर भी यह परिकल्पना है जरूर ।

असंग वस्तुओं के 'परिकल्पित स्वभाव' (चित्त द्वारा निर्मित रूप) को नागार्जुन के 'शून्य' के बराबर समझते हैं । इसलिये वे 'विज्ञप्ति मात्रता' को 'शून्यता' के समकक्ष मानते हैं । उनका मतलब यह है कि वस्तुएँ अपने असली रूप में सापेक्ष होने के कारण 'शून्य' हैं, उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे हैं या नहीं हैं, केवल चित्त की क्रिया उन्हें उनका बाहरी रूप देती है जिसके कारण वे अलग-अलग दिखाई देती हैं अर्थात् चित्त द्वारा परिकल्पित हैं । चित्त भी कोई स्थायी वस्तु नहीं है, बल्कि विज्ञान की सन्तति या प्रवाह है । अतः समस्त जगत् विज्ञानमय है । यह दर्शन अद्वैतवाद की ओर ले जाता है ।

वसुबन्धु और सर्वास्तिवाद

असंग के सबसे छोटे भाई वसुबन्धु विलक्षण प्रतिभा के विचारक थे । शुरू में ये सर्वास्तिवादी थे । सर्वास्तिवाद हीनयानी दर्शन था । इसका विकास तीसरी सदी ई० पूर्व से शुरू हो गया था लेकिन कनिष्क के समय में इसने बड़ी उन्नति की । इनके

राज्य-काल में प्राचीन सूत्रों की टीकाएँ लिखी गईं, जिन्हें विभाषा कहते थे, उनसे इसे बड़ा बढ़ावा मिला और फलतः वह वैभाषिक नय कहलाने लगा। वसुबन्धु ने इसको लेकर अपना महान् ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश' लिखा जो भारतीय दर्शन की अमर निधि है। इसमें वसुबन्धु ने बाहरी जगत् के सभी तत्त्वों (धर्मों) को भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में सत्य माना। उनके अनुसार इन तत्त्वों की संख्या ७५ है। इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है, संस्कृत (मिलकर बने हुए) धर्म और असंस्कृत (बिना मिले बने हुए) धर्म। संस्कृत धर्म ७२ हैं और इनके ४ विभाग हैं, (१) ग्यारह प्रकार के भौतिक तत्त्व (रूप), (२) चित्त, (३) चवालीस चित्त से मिले हुए (चित्त सम्प्रयुक्त) धर्म, (४) चौदह चित्त से अलग (चित्त विप्रयुक्त) धर्म अर्थात् क्षमताएँ। असंस्कृत धर्म ३ हैं (१) आकाश (खाली जगह), (२) प्रतिसंख्यानिरोध (ज्ञान द्वारा रुकने की प्रक्रिया), (३) अप्रतिसंख्यानिरोध (ज्ञान के बिना प्राकृतिक रूप से रुकने की प्रक्रिया)। ये ७५ धर्म एक दूसरे से पृथक् होते हुए भी हेतु प्रत्यय (कारणकार्य) के विधान से एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं और इनके जोड़-तोड़ से दुनिया में वस्तुओं के आकार और और उनमें परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ये दुनिया को भौतिक, मानसिक, इन दोनों से मिलकर बने भौतिक-मानसिक, और क्षमतापरक तत्त्वों में बाँटते हैं जो आकाश, ज्ञान और प्रकृति के साथ रहते हैं। चूंकि इनका संघात अपने आप में पूर्ण या स्वतंत्र नहीं होता इसलिए उसमें नैरात्म्य है।

वसुबन्धु और विज्ञप्तिमात्रता

बाद में वसुबन्धु ने अपने बड़े भाई असंग के विज्ञानवाद को स्वीकार किया। इस विषय में उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे। उनमें एक 'विंशतिका' और उसका भाष्य है। उसमें वे बाहरी वस्तुओं की सत्ता का निषेध और विज्ञप्तिमात्रता (चित्त क्रिया की संतति) का प्रतिपादन करते हैं। उनका एक अन्य ग्रन्थ 'त्रिंशिका' है और इसके ऊपर 'सिद्धि' नामक टीका है। प्रसिद्ध चीनी यात्री श्वान-चाङ ने इसका अनुवाद अपनी भाषा में किया है जो उपलब्ध है। इसमें उन्होंने दो वादों का खण्डन किया है, यह कि विज्ञान की तरह विज्ञेय (बाहरी दुनिया) भी सत् है और यह कि विज्ञान और विज्ञेय दोनों सापेक्ष होने के कारण परमार्थ की दृष्टि से 'शून्य' है। उनके अनुसार विज्ञान पूर्णतः सत् है, अतः दुनिया संवृत्तिसत् है। मूल विज्ञान 'आलय विज्ञान' कहलाता है। यह एक प्रकार का समुद्र है। इससे लहरें उठ उठकर विभिन्न परिणामों—मन, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श धर्म को पैदा करती हैं। यह मत वेदान्त के ब्रह्मवाद के निकट पहुँच जाता है।

दिग्नाग और बौद्ध न्याय

पाँचवीं सदी में दक्षिणी भारत में काञ्ची नगरी में दिग्नाग का जन्म हुआ। उन्होंने बौद्ध न्याय (तर्कशास्त्र) का विकास किया। नालन्दा इसका केन्द्र था। वहीं उन्होंने

अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणसमुच्चय' लिखा होगा। उनके अन्य ग्रन्थ 'न्याय प्रवेश' और 'आलम्बनपरीक्षा' हैं। उन्होंने जर्मन दार्शनिक कान्त की तरह जानने की क्रिया की दो अवस्थाएँ सिद्ध कीं, 'प्रत्यक्ष' (इन्द्रियों द्वारा ग्रहण की गई वस्तुओं की सीधी छाप) और 'अनुमान' (बुद्धि द्वारा इस छाप को दिया गया रूप)। बाह्य जगत की सत्ता बिन्दुओं के रूप में है। प्रत्येक बिन्दु अपने आप में देश और काल की इकाई है। इसका न देश में विस्तार है, न काल में विकास। यह हर प्रकार के गुण, आकार और संबंध से रहित है। इसे 'स्वलक्षण' कहते है। इसे मनुष्य 'प्रत्यक्ष' द्वारा गृहण कर 'अनुमान' या बुद्धि के अध्यवसाय द्वारा जो रूप देता है उससे बाहरी दुनिया दिखाई देती है। इसका नाम 'सामान्य लक्षण' है। इस प्रकार दुनिया सत् रूपी बिन्दुओं और बुद्धि की क्रिया से बना है। धर्मकीर्ति ने सातवीं सदी में इस मत को आगे बढ़ाया। न्याय-वैशेषिक पर इसकी गहरी छाप पड़ी और इन दोनों की टक्कर से भारतीय प्रमाणशास्त्र का निखार हुआ।

बुद्ध के तीन रूप और भक्ति का विकास

महायान धर्म में करुणा (लोक सेवा) और प्रज्ञा (दर्शन) के अलावा भक्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस भक्ति का आकार बुद्ध के तीन कायों (त्रिकाय) का सिद्धान्त है। ये तीन काय हैं धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय। इनकी तुलना वेदान्त के परब्रह्म, ईश्वर या विष्णु और उसके मानुषी अवतारों से की जा सकती है। इन मानुषी रूपों की सप्तविध पूजा का विधान है। मूर्ति को स्नान कराना, वस्त्र, माल्य, गन्ध, धूप, दीप नैवेद्य अर्पित करना और अपने पापों का प्रायश्चित्त करते हुए उनसे बोधिचित्त का प्रसाद मांगना पूजा के प्रधान अंग हैं। व्यावहारिक दृष्टि से यह मत ईश्वरवाद के बहुत निकट है।

महायान ने कला को भी बहुत प्रोत्साहन दिया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह बोधिसत्त्वों में विश्वास करता है और उनकी उपासना को धर्म मानता है। ये बोधि-सत्त्व असीम सौन्दर्य और सौमनस्य की राशियाँ हैं। अवलोकितेश्वर प्रकाश की मूर्ति है, मंजुश्री सौन्दर्य का पुंज है। पद्मपाणि माधुर्य का अवतार है, समन्तभद्र शालीनता का रूप है और मैत्रेय साक्षात् आशा है। इनके साथ इनकी पत्नियों का भी संयोग है जिनका शारीरिक ऐश्वर्य अलौकिक है। इन परिकल्पनाओं ने भारतीय कला में नया जीवन फूंका जैसा गुप्त और पाल काल की मूर्तियों से प्रकट होता है।

बौद्ध संस्कृति का विश्वव्यापी प्रसार

बौद्ध धर्म में जो नया उफान आ रहा था उसने समूचे एशिया को आप्लावित किया और यह योरोप तक पहुँचा। बौद्ध धर्म शुरू से ही व्यापारियों को पसन्द था।

ये व्यापार के लिए समुद्र पार कर दक्षिण पूर्वी एशिया जाया करते थे और उसे सुवर्ण द्वीप समझते थे। अतः इनके माध्यम से वहाँ बौद्ध धर्म का काफी विकास हुआ। द्वीप समूह के सेम्पागा और सेलेबीस से मिली हुई बुद्ध मूर्तियाँ चौथी पाँचवीं सदी के मूलवर्मा और पूर्णवर्मा के वैदिक पौराणिक धर्म से संबंधित लेखों से पुरानी हैं। बोर्नियो का नाम प्रसिद्ध बौद्ध व्यापारी पूर्ण के नाम की याद दिलाता है। मलाया में महानाविक बुद्धगुप्त के अभिलेख महत्वपूर्ण हैं। अन्नम (चम्पा) में द्रोंग-दुओंग से प्राप्त अमरावती शैली की बुद्ध की मूर्ति वहाँ की सबसे पुरानी पुरातत्त्व की वस्तु है। मेनाम घाटी में गुप्त शैली की पत्थर की मूर्तियाँ और अमरावती शैली की काँसे की मूर्ति बौद्ध धर्म के प्रचार का पुराना साक्ष्य प्रस्तुत करती है। इस तरह ईसवी सन् के शुरू होने के बाद इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के फैलने के बहुत प्रमाण मिलते हैं। बाद में श्री विजय के शैलेन्द्र सम्राटों ने बौद्ध धर्म को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। श्रीविजय बौद्ध विद्या और संस्कृति का केन्द्र बन गया और बाहर से बहुत लोग वहाँ शिक्षा प्राप्त करने जाने लगे। यहाँ तक कि भारत के प्रसिद्ध विद्वान दीपङ्कर श्रीज्ञान भी शिक्षा के लिए वहाँ गए। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्ध, भागवत, और तांत्रिक धर्म आपस में घुल मिल कर एक हो गए।

दक्षिण पूर्वी एशिया की तरह मध्य-एशिया भी बौद्ध धर्म की प्रचार-भूमि बन गया। बक्त्र, सुग्द और तारिम घाटी के नखलिस्तानी राज्य बौद्ध विहारों और संघारामों से भर गई। तारिम घाटी के दक्षिणी व्यापार मार्ग पर पश्चिम से पूर्व को सारिकोल में १० विहार और ५०० भिक्षु, वू-शा में १० विहार और १००० भिक्षु, काशगर में कई सौ विहार और १०,००० भिक्षु, खोतान में १०० विहार और ५००० भिक्षु, निया और तुखारदेश में अनेक विहार और स्तूप, चलमदान में १०० बौद्ध परिवार, क्रोरैना के स्तूपों और विहारों से सजे मीरान और चर्कलीक नामक सुन्दर शहरों में ४००० भिक्षु थे। इस घाटी के उत्तरी व्यापार मार्ग पर पश्चिम से पूर्व की ओर अकसू (मरुक) में १० विहार और १००० भिक्षु कूचा में सुवर्णपुष्प विहार आरण्यक विहार जैसे प्रसिद्ध संस्थान से यह सारा शहर एक विहार जैसा लगता था। काराशहर (अग्नि-देश) में १० विहार और २००० भिक्षु और तुफनि में राजमहल के पास एक बहुत बड़ा विहार था। ये दोनों मार्ग चीन के कानसू प्रान्त की सीमा पर तुनह्वांग नामक स्थान पर मिलते थे जो बौद्धों का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था। वहाँ की गुफाओं में जो बौद्ध मूर्तियाँ, चित्र और ग्रन्थ मिले हैं उनका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। वहाँ को होकर बौद्ध धर्म के प्रथम प्रचारक काश्यप मातंग और धर्मरक्ष या धर्मरत्न सफेद घोड़ों पर चढ़ कर चीन की राजधानी चाङ्गान पहुँचे और वहाँ उन्होंने श्वेताश्व विहार नामक विहार स्थापित किया। आज तक इस जगह पर जो गाँव बसा है उसमें दो सफेद पत्थर के घोड़े खड़े हैं जो इन महान् प्रचारकों के आगमन की याद दिलाते हैं। चीन के सांस्कृतिक इतिहास में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण योग है। इसने वहाँ सदा राष्ट्रीय और

सामाजिक एकता के तत्त्वों को शक्ति दी और नैतिक आचार, लोककल्याण के कार्य और साहित्य और कला को प्रोत्साहित किया। चीन से बौद्ध धर्म कोरिया और जापान गया और वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग हो गया। वहाँ के तेन्दई, शिगोन और जेन सम्प्रदायों ने सैनिक और सामरिक गतिविधि को भी बहुत प्रेरणा दी और यह सिद्ध कर दिया कि बौद्ध धर्म शान्ति और युद्ध दोनों की जरूरतों को पूरा कर सकता है।

पश्चिमी जगत् में भी बौद्ध धर्म की गहरी छाप है। अल-बीरूनी ने लिखा है कि मुसलमान होने से पहिले ईरान, ईराक आदि के लोग बौद्ध थे। ईसाई धर्म के बहुत से आख्यानों और उपचारों पर बौद्ध धर्म की छाप है। बारलम और जोसाफत की कथा में बोधिसत्त्व का वृत्तान्त मिलता है। योरोप में रूमानिया के मोलदावा प्रान्त से बौद्ध-ग्रन्थ 'आर्य प्रज्ञापारमिता' की पोथी के दो काले पन्ने मिले हैं और स्केन्दीनेविया में स्वेदन की राजधानी स्तोकहोम के पास हेलगो द्वीप में कमलासन पर पलथी मार कर बैठे बुद्ध की मूर्ति मिली है। अतः स्पष्ट है कि योरोप के उत्तरी छोर तक बौद्ध धर्म का प्रभाव फैल गया था।

जापान से स्केन्दीनेविया तक और इन्दोनेशिया से मंगोलिया तक के विशाल योरेशियाई जगत् में बौद्ध धर्म का प्रसार इसके सार्वभौम मानवीय आदर्श का परिणाम और प्रतीक है।

पाँचवाँ अध्याय

जैन सिद्धान्त का उत्थान और स्वरूप

जैन परम्परा की प्राचीनता : चौबीस तीर्थङ्कर

उत्तर वैदिक काल में जब समाज के विधान में सख्ती आई और धर्म शुष्क रस्म-रिवाज के फन्दे में फंस गया तो इसके विरोध में अनेक आवाजें उठनी शुरू हुईं। लोग वर्णाश्रम व्यवस्था की आलोचना करने लगे, देवताओं और ऋषियों की चर्चा छोड़ क्षत्रियों, व्यापारियों और शूद्रों की बात करने लगे और यज्ञ-याग के बजाए संसार के दुखों और अहिंसापरक सदाचार से उन्हें दूर करने के उपायों पर ध्यान देने लगे। इस परिस्थिति में बहुत से मत और सम्प्रदाय सामने आए। इनमें जैन मत का महत्वपूर्ण स्थान है।

जैन मान्यता के अनुसार यह धर्म अत्यन्त प्राचीन है और इसका श्रीगणेश सृष्टि के आरम्भ से होता है। समय-समय पर तीर्थंकर (तित्थगर) अवतीर्ण होकर इसके सिद्धान्तों का प्रवचन करते हैं। विश्व के विशाल कालक्रम में तो इनकी संख्या ७२० है, किन्तु मानवता के प्रचलित इतिहास में इनकी गिनती २४ है और इनके नाम इस प्रकार हैं, ऋषभदेव या आदिनाथ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त या सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि या निमि, नेमि या अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर। पुराणों में ऋषभदेव को विष्णु का अवतार मान लिया गया है। महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और सम्भव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं, विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थङ्करों के हैं। लगता है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थङ्करों को विष्णु और शिव के रूप सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थङ्करों की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

पार्श्व और उनका चातुर्याम धर्म

बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि वासुदेव कृष्ण के भाई बताए जाते हैं। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्व काशी के क्षत्रिय राजा अश्वसेन और उनकी रानी वामा के पुत्र थे। तीस वर्ष की आयु में गृहस्थ जीवन का ऐश्वर्य छोड़ उन्होंने संन्यास लिया और ८४ दिन की समाधि के बाद परम ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद उन्होंने ७० वर्ष तक

अर्हत्-जीवन बिताकर सम्मेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। उनका निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हुआ। उन्होंने अहिंसा (किसी को हानि या कष्ट न पहुँचाना), सत्य (मन, वचन और कर्म में सच्चे रहना), अस्तेय (किसी की कोई चीज उसकी इच्छा के बिना न लेना) और अपरिग्रह (किसी किस्म की वस्तु या सम्पत्ति का संग्रह न करना) की चार शिक्षाएँ दी। यह चातुर्याम धर्म कहलाता है।

वर्धमान महावीर का जीवन-चरित

पार्श्व का धर्म नैतिक आचार पर केन्द्रित था। उन्होंने गृहस्थ जीवन का पूर्ण निषेध नहीं किया। अतः बहुत लोग उनके अनुयायी हुए। इनमें वैशाली (वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ नामक स्थान) के एक महल्ले कुण्डग्राम (आजकल बसाढ़ के पास बसुकुण्ड नाम का गाँव) का ज्ञातृक नाम का एक क्षत्रिय परिवार भी था। सातवीं सदी ई०पू० में इसका नेता सिद्धार्थ था। उन्होंने वैशाली के लिच्छवी गणतन्त्र के अग्रणी चेटक की बहन त्रिशला से विवाह किया। इस चेटक की पुत्री चेल्लणा मगध के राजा बिम्बिसार से ब्याही गई। उससे अजातशत्रु का जन्म हुआ जो अपने पिता बिम्बिसार की हत्या कर मगध का सम्राट बना। इस प्रकार सिद्धार्थ का वैशाली और मगध के ऊँचे राजकुलों से संबंध था। सिद्धार्थ और त्रिशला के एक पुत्री और दो पुत्र हुए। बड़ा पुत्र नन्दीवर्धन और छोटा वर्धमान था। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जिसे दिगम्बर स्वीकार नहीं करते, बड़ा होने पर वर्धमान का विवाह कौण्डिन्य गोत्र की एक लड़की यशोदा से हुआ। उनके एक पुत्री प्रियदर्शना हुई जो जमाली से ब्याही गई। इनके भी एक पुत्री हुई जिसका नाम कौशिकी बताया जाता है। इस प्रकार हरा भरा परिवार और बड़े-बड़े घरानों से रिश्तेदारी होने पर भी वर्धमान का मन दुनियादारी से उखड़ गया और उन्होंने घर छोड़ने का विचार कर लिया। इससे उनके माता-पिता बहुत दुःखी हुए और वर्धमान को उनके जीते जी अपना विचार स्थगित करना पड़ा। किन्तु उनके मरने पर उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दीवर्धन से आज्ञा लेकर घरबार से नाता तोड़ा। उस समय उनकी आयु तीस वर्ष थी। उन्होंने पूरी शक्ति के साथ तपस्या आरंभ की और तेरह महीने बाद सब कपड़े उतार फेंके और प्रकृति के साथ एकरस हो नंगे रहने लगे। उन दिनों उन्होंने मनुष्य जितनी ऊँची दीवार के घेरे में समाधि लगाई और खाना पीना बिल्कुल कम कर दिया। दो वर्ष और दो महीने की इस कठोर तपस्या के बाद उन्होंने भ्रमण आरम्भ किया। इसमें उन्हें बेहद तकलीफें हुईं। लाढ़ देश (पश्चिमी बंगाल) में वज्जभूमि और सुब्भभूमि नाम के स्थानों पर जो असभ्य लोग रहते थे उन्होंने उन्हें बहुत तंग किया। कुछ दुष्ट लोग उन्हें मुक्के, डंडे, ढेले और भाले से मारते और धक्का देते, कुछ उनको दाँतों से काटते और कुछ छू छू करके उन पर कटखने कुत्ते छोड़ते, कोई बिरला ही उन्हें बचाने को उठता। (आचारांग सूत्र (प्राकृत, आचारंग सुत्त) २.१५.२५) किन्तु वे शरीर के सुख-दुःख से विमुख होकर

इनकी परवाह भी न करते और उनके मन में प्रतिकार या घृणा का भाव पैदा तक न होता। इस प्रकार जगह-जगह घूम कर कठोर साधना करते हुए जब वर्धमान नालन्दा आए तो मंखली गोशाल उनके शिष्य हो गए। ६ वर्ष तक उन्होंने साथ रहकर तपस्या की और प्रकृति का गम्भीर अध्ययन कर यह नतीजा निकाला कि इसके विभिन्न रूपों में जीवन की गति है और वनस्पति से मनुष्य तक सब प्राणी एक ही जन्म-जरा-मरण के क्रम में बंधे हैं। किन्तु वर्धमान का विचार था कि मनुष्य अपने प्रयास द्वारा इस क्रम से निकल सकता है जबकि मंखली गोशाल सोचते थे कि यह प्रक्रिया इतनी अटल है कि मनुष्य इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इस बात पर मतभेद होने पर दोनों एक दूसरे से अलग हो गए। मंखली गोशाल ने अपने को तीर्थङ्कर घोषित कर अपना अलग आजीविक सम्प्रदाय चलाया और वैशाली जाकर वे इसका प्रचार करने लगे। वर्धमान अपनी तपस्या और साधना पर डटे रहे और घूमते-घामते जृम्भिका ग्राम में ऋजुपालिका नदी के उत्तरी तट पर पहुँचे। वहाँ सामाग किसान के खेत में एक साल के पेड़ के नीचे वैशाख के शुक्लपक्ष की दशमी को उन्हें केवल ज्ञान (पूरा ज्ञान) प्राप्त हुआ। वे सर्वज्ञ और केवली हो गए। उन्होंने महान् विजय प्राप्त की। वे जिन और महावीर कहलाने लगे। उस समय उनकी आयु ४२ वर्ष थी।

केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद वर्धमान महावीर ने ३० वर्ष तक समाज में इसका प्रकाश फैलाया। वे स्थान-स्थान पर इसका प्रवचन करते और लोगों को इसकी ओर आकृष्ट करते घूमते रहे। वर्षाऋतु को छोड़कर वे निरन्तर चारिका करते, गाँव में एक रात और शहरों में पाँच रात तक टिकते, विभिन्न वर्गों के लोगों को धर्मदेशना करते रहे। चम्पा, वैशाली, राजगृह, नालन्दा, श्रावस्ती और कौशाम्बी उनके प्रमुख केन्द्र थे। कल्पसूत्र (१.५१) के अनुसार पूर्व में अंग-मगध से पश्चिम में थूणा (थानेसर) तक और उत्तर में कुणाला से दक्षिण में कौशाम्बी तक उनके अनुयायी भिक्षुओं और भिक्षुणियों का कार्य क्षेत्र था।

महावीर के प्रसिद्ध समसामयिक बुद्ध थे। यद्यपि दोनों का कार्यक्षेत्र एक ही था रन्तु उनकी किसी आपसी भेंट का उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी उनके अनुयायी ायः वाद-विवाद से करते रहते थे। कभी-कभी उनमें सम्प्रदायों की अदला-बदली भी ा जाती थी। कहा जाता है कि राजगृह के उपासक उपालि के बुद्ध के साथ मिल जाने पर महावीर को बहुत खेद हुआ। वास्तव में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इन दोनों नेताओं के दर्शन में कुछ ऐसे भेद थे कि इनके एक दूसरे के अधिक निकट आने की सम्भावना कम थी।

महावीर उच्च कोटि के वक्ता थे। उनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उन्हें प्राकृतिक विज्ञान की गहरी जानकारी थी। वायु, अग्नि, वनस्पति, जीव और परमाणु के विषय में उनके विचार बड़े सुलझे हुए थे। गुरुत्वाकर्षण की प्रक्रिया से उड़ती हुई

वस्तु की गति में जो कमी हो जाती है उसे वे खूब समझते थे। गणित औ[illegible] पर तो उन्हें पूरा अधिकार था और जीवशास्त्र उनकी अपनी विद्या थी। [illegible] प्रवचनों में उन्होंने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। इससे उनके उपदेश एक वैज्ञानिक के व्याख्यान जैसे लगते हैं।

तीस वर्ष तक अथक परिश्रम का जीवन बिताकर ७२ वर्ष की आयु में, ५२७-२८ ई० पू० में पावा नाम के स्थान पर राजा हस्तिपाल के एक कर्मचारी के पास रहते हुए उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। इस अवसर पर मल्लकी और लिच्छवी गणराजाओं ने दीपोत्सव मनाया जिससे दीवाली के त्यौहार के चलने की मान्यता है।

जैन धर्म का प्रसार

महावीर के प्रधान शिष्यों में इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति गौतम प्रसिद्ध हैं। उनके प्रवचन गौतम के प्रश्नों से शुरू होते हैं। इन गौतम के विषय में अधिक पता नहीं चलता केवल इतना ही ज्ञात है कि वे महावीर द्वारा नियुक्त ग्यारह गणधरों में थे। परन्तु महावीर के बाद उनके स्थान पर, शायद उनकी मृत्यु के कारण सुधर्म (सुधम्म) संघ के अध्यक्ष बने। उनके बाद जम्बू ने नेतृत्व सम्भाला। ये केवली कहलाते हैं। इनके पश्चात् भद्रबाहु तक श्रुतकेवली चलते रहे। भद्रबाहु उच्च कोटि के संगठनकर्त्ता थे। उन्होंने संघ को गणों, शाखाओं और कुलों में व्यवस्थित किया। उनके जीवन काल के अन्तिम चरण में पाटलिपुत्र में शास्त्रों की वाचना हुई और उनका पाठ निश्चित किया गया।

जैन संघ का प्रचार निरन्तर बढ़ता गया। मौर्य सम्राट प्रियदर्शी अशोक के पौत्र और उत्तराधिकारी सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से उज्जैन में दीक्षा ली और दक्षिणी भारत में जैन धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया। उनके प्रयास से आन्ध्र और तमिल देशों में जैन धर्म फैला। उधर पूर्वी भारत में इसका प्रसार हुआ। ताम्रलिप्ति (मिदनापुर जिले का तामलुक), कोटिवर्ष (दीनाजपुर जिले का बांगढ़), पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) और कालिंग (उड़ीसा) में जैन स्थापित हुए। कलिंग का राजा खारवेल जैन धर्म का समर्थक था। दूसरी सदी ई० पू० में मथुरा जैन धर्म का केन्द्र बना। वहाँ जैन मूर्तियाँ काफी संख्या में मिली हैं। इस प्रकार ईसवी सन् के शुरू होने के समय लगभग समस्त देश में जैन धर्म का प्रचार हो गया। प्रचार बढ़ने से भेद भी बढ़ा। संघ कई सम्प्रदायों और आम्नायों में बँट गया। इनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर उल्लेखनीय हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

'श्वेताम्बर' उन्हें कहते हैं जो सफेद कपड़े पहनते हैं और 'दिगम्बर' उनका नाम है जो दिशाओं को ही वस्त्र समझकर नंगे रहते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि

गृहत्याग के तेरह महीने बाद महावीर ने कपड़ों को बन्धन समझ कर उतार फेंका। तब से नंगे रहने (अचेलकत्व) का आदर्श प्रमुख हुआ। उत्तराध्ययन सूत्र (२३. ३२-३३) में पार्श्व के अनुयायी केशी और महावीर के शिष्य गौतम का जो संवाद मिलता है उसमें इस विषय को लेकर मतभेद प्रकट किया गया है किन्तु अन्त में समन्वयात्मक दृष्टि से गौतम कहते हैं कि मोक्ष के असली साधन तो सदाचार, श्रद्धा और ज्ञान है; कपड़ों का न पहनना आदि बाहरी उपचार तो आध्यात्मिक उन्नति की सुविधा के लिए हैं। इस सूत्र (२. १२) में कपड़े पहनने का स्पष्ट विधान है; स्थानांग सूत्र (२. १७१) और आचारांगसूत्र (२. ५. १-२) में भी इसकी अनुमति है। लगता है कि शुरू में इस बारे में कोई विशेष बंधन न था यद्यपि नंगे रहने का आदर्श ऊँचा माना जाता था। मथुरा से दूसरी सदी ईसवी की जो तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिली हैं वे सब दिगम्बर हैं। बक्सर के पास चौसा से जो काँसे की तीर्थङ्कर-मूर्तियाँ मिली हैं वे भी नंगी हैं। वराहमिहिर ने छठी सदी में केवल दिगम्बर मूर्तियों का ही विधान किया। अतः स्पष्ट है कि उस समय तक सब सम्प्रदायों के जैन दिगम्बर मूर्तियों को ही पूजते थे। किन्तु गुप्त काल में श्वेताम्बर मूर्तियों की पूजा भी होने लगी थी। सौराष्ट्र में वला (प्राचीन वलभी) से काँसे की जो तीर्थङ्कर मूर्तियाँ मिली हैं उनमें उन्हें धोती पहने दिखाया गया है। बड़ोदा के निकट अकोटा (प्राचीन अंकोट्टक) से भी ऋषभनाथ की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति के टुकड़े मिले हैं जिसमें गुप्त शैली की धोती के चिह्न पाए जाते हैं। लगता है गुप्त काल में दिगम्बरत्व को अधिक अच्छा नहीं समझा गया। अतः श्वेताम्बर मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। इससे साम्प्रदायिक भेद बढ़ा होगा और शायद इसी कारण पाँचवी सदी में देवर्द्धिगणी को वलभी में शास्त्रों की नई वाचना करनी पड़ी।

दिगम्बर मानते हैं कि चन्द्र गुप्त मौर्य के राज्यकाल में जब मगध में अकाल पड़ा तो भद्रबाहु-श्रुतकेवली भिक्षु संघ को लेकर दक्षिण की ओर चले गये। संघ का एक भाग दक्षिणी मैसूर के पुण्णाट प्रदेश में बस गया। बाद में अकाल समाप्त होने पर ये सब अपने पुराने देश में वापिस आ गए। उस समय कुछ लोग अर्धफालक (कपड़े का टुकड़ा) पहनने लगे। इस पर टंटा शुरू हो गया। धीरे-धीरे संघ के श्वेताम्बर और दिगम्बर भाग हो गए। किन्तु यह किंवदन्ती बहुत बाद की है। सबसे पहिले ९४२ ई० में हरिषेणा ने अपने 'वृहत्कथाकोश' में इसका उल्लेख किया है। पुरानी परम्परा इसके विपरीत है। जो भद्रबाहु दक्षिण की ओर गए वे निमित्तज्ञ थे और शायद छठी सदी के बराहमिहिर के भाई थे। उनसे संबंधित चन्द्रगुप्त भी मौर्य सम्राट नहीं बल्कि कोई और थे। दिगम्बर आचार्य देवसेन का यह भी मत है कि विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद वलभी नगर में श्वेताम्बर संघ की स्थापना हुई। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ८३ ई० में शिवमूर्ति ने दिगम्बरों (बोटिक) को संघ से अलग किया। कुछ भी हो, दोनों सम्प्रदायों के लोग, एक ही प्रकार की नग्न मूर्तियों को पूजते रहे और पाँचवीं सदी में वे स्पष्ट और अन्तिम रूप से एक दूसरे से अलग हुए जैसा कि उपर्युक्त पुरातत्त्व संबंधी साक्ष्य से सिद्ध होता है।

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में निम्नलिखित भेद हैं (१) श्वेताम्बर नंगे रहने को मोक्ष के लिए अनिवार्य नहीं समझते जब कि दिगम्बर वस्त्रों को परिग्रह का रूप समझ कर मोक्ष में बाधक मानते है (२) श्वेताम्बर स्त्रियों को इसी जीवन में निर्वाण की अधिकारी मानते हैं, दिगम्बर इसका निषेध करते हैं। (३) श्वेताम्बरों का विचार है कि केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी मनुष्य को भोजन की आवश्यकता रहती है, दिगम्बरों के अनुसार वह निराहार रह सकता है। (४) श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने यशोदा से विवाह किया और उनके प्रियदर्शना नाम की पुत्री हुई, दिगम्बरों के अनुसार वे अविवाहित रहे। (५) श्वेताम्बर उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्लिनाथ को स्त्री मानते हैं, दिगम्बर पुरुष। (६) श्वेताम्बर पुरानी वाचनाओं के अनुसार १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २ अन्य (नन्दी और अनुयोग द्वार) इन ४६ आगमों को मानते हैं। दिगम्बर इन्हें स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि प्राचीन आगम का केवल एक अंश 'षड्खण्डागम' के रूप में बचा है। इन भेदों के होने पर भी दोनों सम्प्रदायों का दार्शनिक आधार एक ही है; दोनों उमास्वाती या उमास्वामी के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' में प्रतिपादित दर्शन को प्रामाणिक मानते हैं।

श्वेताम्बरों के उपसम्प्रदाय

कालान्तर में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय अनेक उपसम्प्रदायों में बँट गए। श्वेताम्बरों के मुख्य उपसम्प्रदाय तीन हैं (१) पुजेरा या मूर्तिपूजक या डेरावासी या मन्दिरमार्गी, (२) ढुंढ़िया या बिस्तोला या स्थानकवासी या साधुमार्गी, (३) तेरापन्थी। पुजेरा मूर्तियों को वस्त्रों और आभूषणों से सजाते और उन पर फल फूल और कुँकुम चढ़ाते हैं; उनके साधु कपड़े पहनते हैं और हाथ में कपड़े की पट्टी रखते हैं और उसे बोलते समय मुँह पर लगा लेते हैं। स्थानकवासी लोंका सम्प्रदाय से निकले हैं। १४७४ ई० में अहमदाबाद के एक व्यापारी लोंकाशाह ने मूर्ति पूजा का निषेध किया और लोंका नाम का अपना सम्प्रदाय चलाया। इसके एक उपासक सूरत के रहने वाले विरजी ने १६५३ ई० के लगभग स्थानकवासी सम्प्रदाय कायम किया। इसके अनुयायी साधु मूर्ति नहीं पूजते और मन्दिरों में नहीं ठहरते, बल्कि स्थानकों में रहते हैं। १७६० में एक स्थानकवासी स्वामी भिक्खन जी महाराज ने तेरापन्थी सम्प्रदाय चलाया। ये ५ महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; ५ समिति (होशियारी)–ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग–और ३ गुप्तियों–मनोगुप्ति, वाकगुप्ति, कायगुप्ति–इन १३ बातों को मानते हैं। माघ मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी को हर साल उनका मर्यादा-उत्सव होता है जिसमें सब साधु-उपासक स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं। इनका संगठन काफी मजबूत है।

दिगम्बरों के उपसम्प्रदाय

दिगम्बरों के मुख्य उपसम्प्रदाय तीन हैं: (१) बीसपन्थी, (२) तेरापन्थी, और

(३) तारणपन्थी या समैयापन्थी। बीसपन्थी अपने मन्दिरों में मूर्तियों के अलावा तीर्थंकरों की क्षेत्रपाल, भैरव आदि की मूर्तियाँ भी रखते हैं। मर्तियों पर फल, फूल, मिठाई चढ़ाते हैं, रात तक को आरती करते हैं, बैठ कर पूजा करते हैं और भट्टारकों को धर्मगुरु मानते हैं। तेरापन्थी अपने मन्दिरों में सिर्फ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ रखते हैं, क्षेत्रपाल, भैरव आदि की मूर्ति कभी नहीं रखते, मूर्तियों पर अक्षत (सूखे चावल) लौंग, बादाम, छुवारे, नारियल आदि सूखे फल चढ़ाते हैं, आरती आदि नहीं करते, खड़े होकर पूजा करते हैं और भट्टारकों को अपने गुरु या मुखिया नहीं मानते। वास्तव में तेरापंथ का उदय १६२६ ई० में भट्टारकों के अनाचार की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। तेरापन्थ का एक उपसम्प्रदाय तारणपन्थ कहलाता हैं। इसे तारण स्वामी या तरणतारण स्वामी (१४४८–१४६५) ने चलाया। इसके मानने वाले मूर्तियों की पूजा नहीं करते बल्कि धर्मग्रन्थों (समय) को पूजते हैं। वे जाति-पाँति को भी नहीं मानते। उनमें मुसलमान और छोटी जाति के लोग सम्मिलित हो सकते हैं। तारणस्वामी का प्रमुख शिष्य रुइरमण मुसलमान था। वे बाहरी कृत्य को बेकार समझ कर आध्यात्मिक विकास पर बल देते हैं। मध्य प्रदेश और खानदेश में इनका जोर है। दिगम्बरों के और भी छोटे मोटे सम्प्रदाय हैं जिनमें गुमानपन्थी और तोतापन्थी का उल्लेख किया जा सकता है।

अन्य विभाग

उपर्युक्त सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर अनेक संघों, गणों, गच्छों और शाखाओं में बँटे हुए हैं। दिगम्बरों में मूलसंघ, द्राविड संघ, काष्ठा संघ और माथुर संघ प्रमुख हैं। इनके फिर और टुकड़े हैं। श्वेताम्बरों के ९३७ ई० में ८४ गच्छ बने जो बाद में बढ़ते गए। स्थानकवासियों के ३२ गच्छ मिलते हैं। इसमें छोटे-मोटे भेद चलते हैं। जैसे दिगम्बर मूलसंघ के अनुयायी कीड़ों को हटाने के लिए मोर के परों का गुच्छा रखते हैं तो काष्ठा संघ के अनुयायी इसके लिए गाय की छ के बालों का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी इनमें स्पर्धा भी हो जाती है।

जैन दर्शन की प्रमुख स्थापना अनेकान्तवाद या स्याद्वाद

जैसा ऊपर कहा जा चुका है सभी जैन सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय एक ही दर्शन को मानते हैं जिसे महावीर ने प्रतिपादित किया और बाद के लेखकों और टीकाकारों ने विस्तार से समझाया। यह दर्शन यह मान कर चलता है कि दुनिया के अनेक रूप, पक्ष और गुण हैं (अनन्तधर्मकं वस्तु) और मनुष्य उसके किसी एक रूप, पक्ष या गुण को ही ग्रहण कर सकता है। अतः उसका दृष्टिकोण (नय) आंशिक और एकपक्षीय होता है (एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः) (सिद्धसेन

दिवाकर, न्यायावतार, श्लोक २९)। साधारणतया सात प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं: वस्तु के सामान्य और विशेष गुणों का एक साथ विचार करना (नैगमनय), उसके विशेष गुणों को छोड़कर सिर्फ सामान्य गुणों पर ज़ोर देना (संग्रहनय), उसके सामान्य गुणों को भूलकर केवल विशेष गुणों पर दृष्टि रखना (व्यवहारनय), उसके वर्तमान रूप को ही सही समझना (ऋजुसूत्रनय), उसके लिए प्रयुक्त शब्द के स्वरूप पर ही ध्यान रखना (शब्दनय), उसके लिए प्रयुक्त शब्द के रूढ़ अर्थ को गृहण करना (समभिरूढ़नय) शब्द और अर्थ दोनों को साथ लेकर चलना (एवम्भूतनय) (उमास्वाती, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, १.३४)। इनमें से किसी भी दृष्टिकोण को अपनाते हुए सात प्रकार से 'शायद' (स्यात्) शब्द का व्यवहार करना उचित है, यानी, यह चीज शायद है, शायद नहीं है, शायद है और नहीं है, शायद इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, शायद यह है पर इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, शायद यह नहीं है पर इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, शायद यह है और नहीं भी है पर इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता (कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, २.२३)। यह दर्शन वर्तमान व्यवहारवाद (प्रेगमेटिज्म) और सापेक्षवाद (थियरी ऑव रिलेटिविटी) के निकट पहुँच जाता है, लेकिन यह संशयवाद (स्केपटीसिज़्म) या अज्ञेयवाद (एगनोस्टीसिज़्म) से कोसों दूर है क्योंकि यह वस्तु के अस्तित्व को संदिग्ध या अज्ञेय नहीं बताता वरन् उसके विषय में मनुष्य के ज्ञान को सीमित और सापेक्ष सिद्ध करता है। इस दृष्टि से सभी धर्म-दर्शन अपनी-अपनी जगह सही हैं और अपने-अपने ढंग से सत्य की खोज करते हैं। किसी का यह दावा करना कि मैं ही ठीक हूँ और मेरा ही मत सही है और अन्य सब ग़लत है और इनकी राय बेकार है उचित नहीं है। असली सोचने का ढंग वही है जिसे प्रसिद्ध जैन दार्शनिक मणिभद्र ने इस प्रकार व्यक्त किया है, 'न मेरा महावीर से कोई लगाव है न मुझे कपिल आदि से किसी प्रकार की नफरत है, मैं तो उचित बात को मानता हूँ वह चाहे जिसकी हो'' (न मे जिन पक्षपातः न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तद्ग्राह्यं वचनं मम ॥) (षड्दर्शनसमुच्चय ४४ पर टीका)। इस तरह जैन सिद्धान्त बुद्धि के कपाटों को नए विचारों की हवा के झोकों के लिए पूरी तरह खुला रखता है जिससे विचारों में से संकीर्णता की दुर्गन्ध दूर हो सके।

दुनिया का सही स्वरूप प्रक्रियात्मक वस्तुवाद

इस अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की आधारशिला पर जैन दर्शन अपनी दृष्टि से संसार को समझने का प्रयास करता है। सब से पहिले यह संसार के अस्तित्व को सही मानता है। इसकी पहिली स्थापना है कि हर द्रव्य का अस्तित्व सही है (सद्भावो ही स्वभावः...द्रव्यस्य–प्रवचनसार, २.४; 'सद् द्रव्यलक्षणम्'–तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ५.२९)। किन्तु प्रत्येक द्रव्य के दो रूप हैं, एक वह जिसमें वह स्थिर दीखता है (द्रव्यार्थिकनय)

और दूसरा वह जिसमें वह निर्माण की अवस्था में प्रकट होता है (पर्यायार्थिकनय)। असल में 'द्रव्य' शब्द ही 'द्रु' धातु से बना है जिसका अर्थ 'बहना' है। जिस प्रकार जल के बहने में ही उसका अस्तित्व निहित होता है इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के निर्माण की प्रक्रिया ही उसके स्वरूप को स्पष्ट करती है। प्रत्येक पदार्थ गति और स्थिति का संगम है और उत्पत्ति और विनाश के भीतर रहने वाली नित्यता को व्यक्त करता है। (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं सत्—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ५.३१)। वह न तो केवल क्षण बिन्दुओं की सन्तति है, जैसा बौद्ध मानते हैं और न किसी शाश्वत सत्ता का रूप है, जैसा ब्रह्मवादी समझते हैं, अपितु परिवर्तन और नित्यता का सामंजस्य है। इस प्रकार जैन दर्शन एक उच्च प्रक्रियात्मक वस्तुवाद का प्रतिपादक है जो अपने ढंग का अनोखा सिद्धान्त है।

द्रव्यों का वर्गीकरण और जीव के प्रकार

द्रव्यों के दो वर्ग हैं, जिनका परिमाण है (अस्तिकाय) और वे जो परिमाणहीन हैं यानी आकाश (अनस्तिकाय)। अस्तिकाय द्रव्य दो प्रकार के हैं, जीव, जिनमें चैतन्य हैं, और अजीव, जो चैतन्यरहित हैं। जो जीव दुनिया से बंधे हैं उनके दो प्रकार हैं, स्थावर, जो अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और वनस्पति में हैं और जिन्हें केवल छूने का ज्ञान हो सकता है, और त्रस, जिनकी इन्द्रियों की संख्या के हिसाब से चार श्रेणियाँ हैं, छूने और चखने की दो इन्द्रिय वाले सीपी, घोंघा (यूनिओं, पाइला) वगैरा; छूने, चखने और सूँघने की तीन इन्द्रिय वाले चींटी आदि; छूने, चखने, सूँघने और देखने की चार इन्द्रिय वाले मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि; और छूने, चखने, सूँघने, देखने और सुनने की पाँच इन्द्रिय वाले पक्षी, पशु, मनुष्य आदि। जीव का विस्तार शरीर के अनुसार होता है, अर्थात् शरीर के अंग-अंग में जीव होता है। इसका कार्य अनुभूति है। इसे सुख, दु:ख, सन्देह, ज्ञान आदि का अनुभव होता है।

अजीव (पुद्गल) का रूप

जीव अजीव के ढाँचे में रहता है। अजीव या जड़ पदार्थ 'पुद्गल' कहलाता है। 'पुद्गल' उसे कहते हैं 'जिसका संयोग और वियोग हो सके (पूरयन्ति गलन्ति च)'। अतः अजीव यानी मैटर वह है जिसे जोड़ कर बड़ा किया जा सके और तोड़कर छोटा किया जा सके। इसका सबसे छोटा भाग परमाणु (एटम) है। परमाणुओं के मिलने और जुड़ने से भौतिक जगत् (मेटीरियल नेचर के विभिन्न रूप बनते हैं जिनके पाँच गुण, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं। इन्हें संगठित करना आकाश, काल, गतितत्त्व (धर्म) और स्थितितत्त्व (अधर्म) का काम है। आकाश इनका आकार और विस्तार निश्चित करता है। काल इनके बनने, बढ़ने, बदलने, पुराना होने, नए होने की प्रक्रिया को उत्पन्न करता है (वर्त्तना परिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ५.२२)। गतितत्त्व (धर्म) उन द्रव्यों को आपसी संयोग से, जैसे मछली और पानी के एक साथ होने से, गति प्रदान करता है जिनमें इसकी क्षमता है, और स्थितितत्त्व (अधर्म) उनके स्थिर रहने में सहायक होता है। ये आकाश, काल, गतितत्त्व (धर्म) और स्थितितत्त्व (अधर्म,) कर्त्ता, कारण और उपादान से भिन्न हैं लेकिन उनकी क्रिया के अन्दर मौजूद रहते हैं। अतः इन्हें 'अपेक्षाकारण' कहा जाता है।

जीव और अजीव के संबंध का माध्यम—'कर्म'

जीव बहुत बारीक प्रकार के पुद्गल से घिरा रहता है। इसे 'कर्म' कहते हैं। जैसे खान में धातु मिट्टी में मिली रहती है, इसी तरह जीव इस 'कर्म' नाम के बारीक मैटर से सना रहता है। जब जीव कुछ करने लगता है तो यह बारीक मैटर हर तरफ से उसे चिपट जाता है। इस बारीक मैटर या कर्म के आठ प्रकार हैं, ज्ञानावरणीय (जो ज्ञान को घेर लेता है), दर्शनावरणीय (जो दृष्टि को धुँधला कर देता है), वेदनीय (जिसका संबंध भावना से है), मोहनीय (जो धोखे में डाल देता है), आयु (जिससे जीव काल के बन्धन में बँधता है), नाम (जिससे वह आकार की सीमाओं में जकड़ जाता है), गोत्र (जिससे वह वर्ग के क्षेत्र में सिकुड़ जाता है), और अन्तराय (जो उसे हर तरह से अवरुद्ध और परिबद्ध करते हैं)। ये कर्म जीव पर रूप, रंग, रस और गन्ध की विशिष्ट छाप लगाते हैं जिसे 'लेश्या' (लेस्सा) कहते हैं। इन 'लेश्याओं' को काले, नीले, भूरे, पीले, लाल और सफेद रंगों के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया गया है। इनसे अलग होना, पुद्गल से पृथक् होना, कर्म के बन्धन को तोड़ना, जन्म, मरण और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होना ही जीव का मोक्ष है। इसके लिए एक निश्चित कार्यक्रम या आचार संहिता बनाई गई है जिसका पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस आचार के तीन रूप और भाग हैं, सम्यग्-दर्शन (सही विश्वास), सम्यग्-ज्ञान (सही विचार) और सम्यग्-चारित्र (सही काम)। इसे 'त्रिरत्न' कहते हैं।

सही विश्वास

सम्यग्-दर्शन (सही विश्वास) के आठ अंग हैं, निश्शंकित (सन्देह को दूर करना), निष्कांक्षित (सांसारिक सुखों की इच्छा को मिटाना), निर्विचिकित्सिक (शरीर की आसक्ति-विरक्ति से बचना), अमूढ़दृष्टि (गलत रास्ते की तरफ प्रवृत्ति न करना), उपगूहन (अधकचरे विश्वासों से ढिलमिल न होना), स्थितिकरण (सही विश्वासों पर जमकर रहना), वात्सल्य (सब के लिए प्रेम का भाव रखना) और प्रभावना (जैन सिद्धान्त की महानता का ज्ञापन करना)। इसके लिए तीन प्रकार की मूर्खताओं से बचना जरूरी है। लोकमूढ़ जैसे नदी में स्नान करने से पाप से मुक्त होने का अन्धविश्वास, देवमूढ़ जैसे

अनेक देवी देवताओं को पूजने से पुण्य प्राप्त करने की आशा, और पाषण्डमूढ़ जैसे चलते-फिरते छली-कपटी साधु-सन्तों के धोखे में आना। साथ ही ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर के अहंकार से दूर रहना भी ज़रूरी है।

सही विचार

सम्यग् ज्ञान (सही विचार) पाँच प्रकार का है, मतिज्ञान (जीव और अजीव का ज्ञान), श्रुतज्ञान (शास्त्रों का ज्ञान), अवधिज्ञान (दूर देश और काल का ज्ञान), मनः-पर्यायज्ञान (दूसरों के भावों और विचारों का ज्ञान) और केवल ज्ञान (देश काल की सीमाओं से परे का सम्पूर्ण ज्ञान)। सम्यग्दर्शन की तरह इसके भी आठ अंग हैं, ग्रन्थ (शब्दों का ठीक प्रयोग), अर्थ (शब्दों के अर्थ की ठीक पहचान), उभय (शब्द और अर्थ दोनों का सही ज्ञान), काल (समय की गति और क्रम का ज्ञान), विनय (नम्रता की दृष्टि), सोपधान (व्यवहार का औचित्य), बहुमान (उत्साह और रुचि) और अनिन्हव (ज्ञान को छिपाकर न बैठना)।

सही काम, पाँच महाव्रत और अणुव्रत

सम्यग्-चारित्र (सही काम) पाँच 'महाव्रतों' पर आधारित है। ये हैं अहिंसा (किसी को हानि न पहुँचाना), सत्य (झूठ से बचना और सचाई के साथ रहना), अस्तेय (दूसरों की चीज या हक न लेना), ब्रह्मचर्य (शरीर की अपवित्रताओं को दूर करना) और अपरिग्रह (वस्तुओं और पदार्थों का संग्रह न करना, सम्पत्ति न जुटाना और जो कुछ भी अपने पास हो उसे दूसरों के आराम के लिए प्रस्तुत करना)। चौथा महाव्रत महावीर की देन है, बाकी पार्श्व के समय से चल रहे हैं। दुनियादारी में रहते हुए इन महाव्रतों का पूरी तरह पालन करना संभव नहीं होता, इसलिए आंशिक रूप से इनका आचरण किया जा सकता है, इन आंशिक रूपों को 'अणुव्रत' कहते हैं। इन महाव्रतों ा अणुव्रतों का पालन करने के लिए मैत्री (सब के प्रति मित्रता का भाव), प्रमोद (दूसरों ो उन्नति करते देखकर खुश होना), कारुण्य (दुखी दरिद्रों के लिए दया रखना) और ाध्यस्थ (असभ्य और बुरे आदमियों की अनुचित बातों पर ध्यान न देना) आवश्यक है। पाँच महाव्रत या अणुव्रत और मांस, मदिरा और शहद का प्रयोग न करना आठ मूलगुण हैं। इन्हें हर आदमी साधु या उपासक, को ग्रहण करना चाहिए।

सात शीलव्रत

पाँच महाव्रतों या अणुव्रतों के साथ-साथ सात 'शीलव्रतों' का आचरण करना भी आवश्यक है। इन शीलव्रतों के दो भाग हैं, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणाव्रत तीन हैं, दिग्व्रत (कुछ विशिष्ट दिशाओं में अपनी क्रिया सीमित करना), देशव्रत (कुछ विशिष्ट

क्षेत्रों में अपना कार्य सीमित करना), अनर्थदण्डव्रत (बिना कारण अपराध न करना)। शिक्षाव्रत चार हैं, सामायिक (समय का कुछ भाग अपने ऊपर विचार करने के लिए निश्चित करना), प्रोषधोपवास (महीने में चार दिन, दोनों अष्टमियों और चतुर्दशियों को, उपवास करना), उपभोगप्रतिभोग परिमाण (वस्तुओं और पदार्थों के दैनिक उपभोग को नियमित करना), और अतिथि-संविभाग (दूसरों को, साधुओं या उपासकों को, भोजन कराने के बाद भोजन करना)।

पाँच समिति

इनके अलावा पाँच प्रकार की 'समिति' या सतर्कता बरतनी चाहिए, यानी ईर्यासमिति (सावधानी से चलना जिससे किसी जीव को कष्ट न पहुँचे), भाषा समिति (सावधानी से बोलना जिससे किसी की भावना को ठेस न लगे), एषणा समिति (सावधानी से खाना जिससे कोई जीव मर न जाए), आदाननिक्षेप समिति (चीजों को सावधानी से उठाना, रखना और प्रयोग करना जिससे किसी को कष्ट न हो) और उत्सर्ग समिति (सावधानी से टट्टी पेशाब करना जिससे गन्दगी न फैले)।

तीन गुप्ति

साथ ही मन, वचन और कर्म में 'गुप्ति' या संयम का अभ्यास करना चाहिए।

ये पाँच 'समिति' और तीन 'गुप्ति' अष्टप्रवचनमाता कहलाती हैं।

पाँच 'समिति', तीन 'गुप्ति' और पाँच 'महाव्रत' या 'अणुव्रत' इन तेरह बातों को तेरापन्थी सम्प्रदाय बहुत महत्व देता है।

दशलक्षण धर्म

एक दूसरी दृष्टि से धर्म के दस लक्षण बताए गए हैं। यह 'दशलक्षण धर्म' इस प्रकार हैं: उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव (मुलायमी), उत्तम आर्जव (सीधापन), उत्तम शौच (पवित्रता), उत्तम सत्य (सचाई), उत्तम संयम (अपने ऊपर काबू), उत्तम तप (तपस्या), उत्तम त्याग (कुर्बानी,) उत्तम आकिंचन्य (सम्पत्तिहीनता), उत्तम ब्रह्मचर्य (यौननिग्रह)।

बाईस परिषह

ज्यादा आरामतलबी भी खराब है। इसलिए जैन सिद्धान्त बाईस 'परिषहों' (सख्तियों) को सहन करने की हिदायत करता है। ये हैं क्षुत् (भूख), पिपासा (प्यास), शीत (सर्दी), उष्ण (गर्मी), दंशमशक (मच्छरों का काटना), नाग्न्य (नंगापन), अरति (खराब वातावरण), स्त्री (यौन संताप), चर्या (थकावट), निषद्या (एक जगह बैठे रहना),

शय्या (सख्त जमीन पर सोना), आक्रोश (तानेबोली सहना), वध (पिटना), याचना (मांगना), अलाभ (कुछ न पाना), रोग (बीमारी), तृणस्पर्श (कांटे चुभना), मल (गन्दगी), सत्कार पुरस्कार (बेइज़्जती), प्रज्ञा (गुणों का अनादर), अज्ञान (मूर्खता) और अदर्शन (सिद्धि न मिलने पर सिद्धांत में अश्रद्धा)।

साधुओं की श्रेणियाँ

साधुओं के लिए और भी कठिन और कठोर नियम हैं जो 'आचारांगसूत्र' में दिए हुए हैं। दिगम्बर साधु क्षुल्लक, ऐल्लक और निर्ग्रन्थ कहलाते हैं और श्वेताम्बर साधु यति, साधु और आचार्य। जो साधु जिनकल्पी होते हैं उनके नियम उनसे ज्यादा सख्त होते हैं जिन्हें स्थविरकल्पी कहते हैं। सामान्यत: जैन साधु बड़े तपस्वी और विद्वान् होते हैं और जनता पर उनका गहरा प्रभाव होता है।

संवर और निर्जरा

जैन-सिद्धान्त का लक्ष्य जीव में अजीव का प्रवेश (आस्रव) रोकना और जो प्रवेश हो चुका है उसे निकालना है। पहिली क्रिया को 'संवर' कहते हैं और दूसरी का नाम 'निर्जरा' है। इन दोनों क्रियाओं का फल 'मोक्ष' हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या जीव और अजीव के प्राकृतिक योग को पूरी तरह भंग किया जा सकता है। अर्थात् क्या कर्म से पूरी तरह बचा जा सकता है। इस विषय में महत्व की बात यह है कि जहाँ जैनसिद्धान्त अनेक कर्मों से हटने की शिक्षा देता है, वहाँ वह कुछ कर्मों को करने का भी आदेश देता है। दशलक्षणधर्म और मैत्री, कारुण्य और प्रमोद की चर्या विधेयात्मक है। जनहित और लोकोपकार के कार्य और शिक्षा, उपदेश, स्वाध्याय और तपस्या का भी सक्रिय रूप हैं। पार्श्व और महावीर केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी जनता को शिक्षा देने के लिए उनके बीच में रहे। यह सब कर्म हैं। लेकिन यह कुशल कर्म हैं। तः स्पष्ट है कि जैन सिद्धान्त कुशल कर्म की प्रेरणा देता है और अकुशल कर्म का षेध करता है। मतलब यह है कि 'संवर' और 'निर्जरा' की क्रियाओं का संबंध अकुशल कर्म से है। जीव को जिस कर्म के 'आस्रव' और 'बंध' से मुक्त करना है वह अकुशल कर्म है। कुशल कर्म का संयोग जीव के लिए बाधक नहीं है। अत: मनुष्य को अकुशल कर्म से बचना है और कुशल कर्म का आचरण करना है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि जैन-सिद्धान्त केवल अकुशल कर्म की दृष्टि से जीव और अजीव की अलहदगी या मोक्ष की बात करता है। अत: इसे निषेधात्मक निष्क्रियताप्रधान या पलायनवादी नहीं कहा जा सकता। यह एक उच्च कोटि का विधेयात्मक, सक्रियता प्रधान और कर्मवादी नैतिक अनुशासन है।

जैनधर्म और बौद्धधर्म की तुलना

प्राय: बौद्धशासन और जैनसिद्धान्त के भेद की बात की जाती हैं। इन धर्मों में जो भेद है वह पद्धति और उपचार का है, मूल लक्ष्य या दृष्टि का नहीं। ये दोनों ईश्वर, नियति, भाग्य को नहीं मानते। दोनों कहते हैं कि मनुष्य अपने निजी अध्यवसाय से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर सकता है। दोनों इसके लिए ऊँचे नैतिक आचरण पर बल देते हैं। दोनों सहिष्णु और विस्तृत दृष्टिकोण रखते हैं, बौद्ध विभज्यवादी हैं तो जैन अनेकान्तवादी। दोनों कारण-कार्य और वस्तुओं के अन्त:संबंध के समर्थक हैं जिससे जगत् और जीवन का क्रम चलता है; लेकिन दोनों की चिन्तन-पद्धतियों में अन्तर है। गौतम बुद्ध ने आत्मा और शरीर की एकता या भिन्नता की बात करने से इन्कार कर दिया मगर वर्धमान महावीर ने उन्हें साफ तौर से एक दूसरे से भिन्न बताया यद्यपि यह भी कहा कि वे एक दूसरे के साथ मिले रहते हैं। बौद्धों के अनुसार सत् क्षण-बिन्दुओं के रूप में विद्यमान हैं जो हर दम पैदा होते और समाप्त होते रहते हैं और जिनकी सन्तति से जगत् के विभिन्न रूप बनते हैं। जैन सत् को द्रव्य मानते हैं जो जीव, अजीव, आकाश, काल, गतितत्त्व और स्थितितत्त्व इन छ: प्रकार का है। वैसे तो बौद्ध भी पाँच स्कन्ध मानते हैं जिनमें न सिर्फ नाम (माइण्ड) और रूप (मैटर) बल्कि वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी शामिल हैं और इस प्रकार जीव और अजीव और उनके सम्पर्क का भाव आ जाता है, पर वे इन स्कन्धों को क्षणों की सन्तति समझते हैं जबकि जैन द्रव्य में उत्पत्ति और व्यय के होते हुए भी ध्रुवता मानते हैं। बौद्धों में अजीव द्रव्य की अलग से परिकल्पना न होने से परमाणुओं की सत्ता को मानने की कोई गुंजायश नहीं है, जैन अजीव द्रव्य को स्वतंत्र मानकर परमाणुवाद की स्थापना करते हैं। बौद्धों और जैनों का कर्म के विषय में भी मतभेद है। बौद्ध इसे चैतसिक समझते हैं तो जैन इसे भौतिक मानते हैं। अत: बौद्धों की दृष्टि से चित्त के संतुलन से कर्म का निग्रह हो सकता है, परन्तु जैनों के विचार से शारीरिक क्रियाओं के नियंत्रण से इससे मुक्ति होती है। फलत: बौद्ध साधना प्रधान रूप से चैतसिक है और जैन साधना शारीरिक, यद्यपि इन दोनों रूपों को बिल्कुल अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में जैन साधना शुरू से इतनी कठिन और कठोर रही है कि इसने जैन साधकों के वर्ग के व्यक्तित्व को बनाए रक्खा है। इसलिए वे बौद्धों की तरह संसार में ज्यादा भले ही न फैले हों पर उनकी तरह उनका अस्तित्व भारतीय धर्म की सामान्य धारा में विलीन नहीं हुआ और जबकि आज भारत में बौद्ध स्वतंत्र रूप से नहीं रहे। १९५१ की जनगणना के अनुसार यहाँ जैनों की संख्या १६,१८,४०६ थी जो अब और भी बढ़ गई है।

भारतीय संस्कृति को जैन सिद्धान्त की देन

जैन धर्म की भारतीय भाषा और साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन हैं। संस्कृत और

प्राकृत साहित्य को जैन लेखकों ने बहुत समृद्ध किया और समस्त भारतीय पौराणिक सामग्री को अपनी मान्यताओं के साथ समन्वित किया। महावीर के निर्वाण से ५३० वर्ष बाद विमलसूरि ने प्राकृत भाषा में 'पउमचरिय' (पद्मचरित) लिखकर रामकथा को जैन रूप दिया। इसके आधार पर बाद में रविषेण ने सातवीं सदी में 'पद्मपुराण' की रचना की और स्वयम्भू ने अपभ्रंश में 'पउमचरिउ' लिखा। महाभारत और हरिवंश का जैन रूपान्तर आठवीं सदी में जिनसेन द्वितीय के 'हरिवंश पुराण' में मिलता है। पाण्डवों की कथा को लेकर देवप्रभ ने तेरहवी सदी में 'पाण्डव चरित' और शुभचन्द्र ने सोलहवीं सदी में 'पाण्डवपुराण' लिखा। इन ग्रन्थों में पाण्डवों को जैन धर्मावलम्बी सिद्ध किया गया है। प्राचीन महापुरुषों, तरेसठ शलाका पुरुषों, के विषय में जिनसेन और गुरमभद्र ने नवीं सदी में 'त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण', पुष्यदन्त ने दसवीं सदी में 'त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालंकार' और बारहवीं सदी में हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित' लिखे। तीर्थङ्करचरित में 'नेमिनाथचरित', तेरहवीं सदी में भावदेव का 'पार्श्वनाथ चरित' आदि उल्लेखनीय हैं। महाकाव्य की शैली पर लिखा गया जयसिंह नन्दी का 'वरांगचरित' भी महत्वपूर्ण है। इस पर बौद्ध कवि अश्वघोष का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। कथा-साहित्य के विकास में तो जैन लेखकों ने कमाल कर दिया। पादलिप्त की 'तंरगवती' इस ढंग की सब से पुरानी रचना थी जो अब खो गई है, लेकिन इसके आधार पर चौदहवीं सदी में बनी 'तरंगलीला' मौजूद है। आठवीं सदी में हरिभद्र ने 'समरादित्य कथा' (समराइच्च कहा), दसवीं सदी में सिद्धर्षि ने 'उपभितिभवप्रपंचकथा', चौदहवीं सदी में धर्मचन्द्र ने 'मलय सुन्दरी कथा' और सत्रहवीं सदी में बुद्धिविजय ने 'पद्मावती चरित्र' की रचना की। इनके अलावा अनेक लेखकों ने बड़ा विशाल प्रबन्ध और कथानक साहित्य तैयार किया। नाटक और गीत-काव्य के क्षेत्र में भी जैन लेखकों की बड़ी देन है। उनके लिखे 'हम्मीरमदमर्दन', 'मोहराजपराजय' और 'प्रबुद्ध-रौहिणेय' अच्छे नाटक हैं। स्तोत्र और उपदेश साहित्य की तो इन लोगों ने बौछार-सी की और नीति, दर्शन और व्याकरण को खूब समृद्ध किया। संस्कृत, प्राकृत के अलावा अपभ्रन्श और आधुनिक देशी भाषाओं और उनके साहित्य के निर्माण में भी उनका महत्वपूर्ण योग है।

जैन सिद्धान्त की सामाजिक दृष्टि

जैन सिद्धान्त की आधार शिला 'सामाइय' (सामायिक) या समानता का दृष्टिकोण है। प्रत्येक साधु या उपासक सबसे पहिला व्रत लेता हुआ कहता है कि 'मैं समानता का आचरण करूँगा' (करेमि भन्ते सामाइयं) (आवश्यकसूत्र, ३)। स्पष्टतः जैन विचारकों ने मानवता को एक माना है और वर्ग और वर्ण के भेद का खण्डन किया है। जिनसेन 'आदिपुराण' (३८. ४५. ४६) में लिखते हैं कि वर्णों और जातियों की व्यवस्था कर्म और व्यवसाय पर निर्भर है। रविषेण 'पद्मपुराण'

(११. २००—५) में घोषणा करते हैं कि जन्म से नहीं, कर्म से मनुष्य का वर्ण बनता है। अमितगति 'धर्मपरीक्षा' (१७. २४–५, ३१–३) में कहते हैं कि जन्म और जाति का विचार करना बिल्कुल बेकार है। यद्यपि बाद में जैन लोगों में जाति-पाँति चल गई, पर उनमें आपसी सहयोग और सम्पर्क काफी गहरा रहा और उन्होंने मानवीय मूल्यों के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया।

छठा अध्याय

भागवत धर्म, पौराणिक समन्वय और सांस्कृतिक विकास

जिस युग में बौद्ध और जैन धर्म भारतीय चिन्तन और संस्कृति को नया मोड़ दे रहे थे, उन्हीं दिनों वहुत से भक्तिप्रधान धर्म इसकी नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहे थे। इनमें शैव और वैष्णव धर्म प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने मानवता के सार्वभौम रूप को स्पष्ट किया और उसके सार्वजनिक मूल्यों को प्रोत्साहन दिया और साथ ही भारतीय धर्म-दर्शन की मौलिक मान्यताओं को अक्षुण्ण रक्खा।

शैव धर्म का विकास

शैव धर्म काफी पुराना लोकधर्म है। शिव की परिकल्पना में संस्कृति के विकास के अनेक स्तर समाए हुए हैं। नव-पाषाण युग की वहुत सी जातियों में खेती-बाड़ी से संबंध रखने वाले जो रीति-रिवाज चलते रहे हैं वे बहुत काफी मात्रा में इसमें प्रविष्ट हैं। विशेषरूप से पृथ्वी की उर्वरता बढ़ाने का उपचार लिंग-पूजा के रूप में इसका अंग बन गया है। गुडिमल्लम और भीटा से ऐसे लिंग मिले हैं जिन पर देवता की मनुष्याकृति भी अंकित है। वैदिक देवता रुद्र, जो विश्व के तीव्र गति पक्ष का परिचायक है, कालान्तर में शिव के साथ मिलकर एक हो गया। तैत्तिरीय संहिता, ४. ५. १.), श्वेताश्वतर उपनिषद् (३. ११. २०; ३. २.) में इनकी एकता सिद्ध की गई है। इसी उपनिषद् (६. २३) में 'भक्ति' का सबसे पहिला उल्लेख मिलता है। इसका ऋषि श्वेताश्वतर भक्ति-पूर्वक रुद्र की शरण लेता है। बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देस' में जिन देव भक्तों का वर्णन आता है उनसे रुद्र शिव के उपासकों का अभिप्राय है। ईसा से पूर्व चौथी-तीसरी सदी में यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज़ ने दायोनीसस की पूजा का जिस प्रकार वर्णन किया है उससे शिव की पूजा के रिवाज का साक्ष्य मिलता है। ईसा से पूर्व दूसरी सदी में पतंजलि ने 'शिव-भागवतों' की चर्चा की है और संकेत किया है कि उस समय शिव की मूर्ति की पूजा चालू थी।

लकुलीश का पाशुपत धर्म

शिव-पूजा को लकुलीश ने पाशुपत सम्प्रदाय में संगठित किया। वायु, कूर्म और लिंग पुराणों से पता चलता है कि जिस जमाने में वासुदेव कृष्ण उत्तरी भारत

में अपना धर्म फैला रहे थे उसी समय पश्चिमी भारत में कायावरोहण नामक स्थान पर लकुलीश का जन्म हुआ। उन्हें शिव का अठाइसवाँ और अन्तिम अवतार मान लिया गया। उनके विचार 'पाशुपत सूत्रों' में मिलते हैं जिनके आधार पर चौदहवीं सदी में माधवाचार्य ने अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में उनके मत के विषय में लिखा है। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि लकुलीश शिव को समस्त सृष्टि का कारण मानते थे। उन्हें 'पति' कहते हैं। उनका 'कार्य' जीवात्मा है जिसका नाम 'पशु' है। यह 'पशु' २३ भौतिक तत्त्वों के जाल में जकड़ा हुआ है, जिनके लिए 'कला' या 'पाश' शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन इसका एक गुण 'विद्या' भी है जिससे यह 'कलाओं' या 'पाशों' से छुटकारा पाता है। इस मुक्ति के लिए इसे 'विधि' के अनुसार 'व्रतों' का पालन करना पड़ता है और 'द्वारों' से गुजरना होता है। 'व्रतों' में राख पर लेटना, शरीर पर राख लपेटना, हंसना, गाना, नाचना, हुडुक्कार की आवाज करना, मंत्र जपना और पूजा करना शामिल हैं। 'द्वारों' में जागते हुवे भी सोते से लगना (क्राथन), लकवा मारे हुए की तरह गात को हिलाना (स्पन्दन), चलते हुए लडखड़ाना (मण्डन), कामोद्दीपक मुद्राएँ बनाना (शृंगरण), पागलों जैसा असामाजिक व्यवहार करना (अवितत्करण) और ऊतपटांग बकना (अवितद्भाषण) सम्मिलित हैं। इनसे 'योग' की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें 'पशु' 'पति' से मिलता है और उसके समस्त दु:खों का अन्त हो जाता है और उसे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

पाशुपत धर्म के पीछे छुपा हुआ सामाजिक विद्रोह

पाशुपत शैवों की बहुत सी चर्याएँ बड़ी अजीब सी लगती हैं लेकिन इनके पीछे सामाजिक विद्रोह की भावना छिपी मालूम होती है। जब समाज वर्णों और वर्गों के झगड़े-जंजाल में फंसकर निष्क्रिय होता जा रहा था और मनुष्य को इससे छुड़ाने के प्रयत्न जारी थे तो पाशुपतों ने भी इसकी तरफ धक्का मार रवैय्या अपनाया और इसके गर्वीले शिष्टाचार को चुनौती देने के लिए अशिष्ट बातों का व्यापक प्रचार किया। महाभारत (शान्ति-पर्व, २८४. १२१–२४) की दक्ष और शिव की कथा में शिव को साफतौर से यह कहते हुए दिखाया गया है कि उसका धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था के विपरीत है और मानव-मात्र के कल्याण के लिए है। पाशुपत सूत्रों के टीकाकार कौण्डिन्य ने भी पाशुपतों की चर्याओं को ब्राह्मण विरोधी बताया है। पाशुपतों और ब्राह्मणों का विरोध कितना गहरा था इसका अनुमान 'स्मृतिचन्द्रिका' (२. ३१०) के इस आदेश से लगाया जा सकता है कि पाशुपत को छू लेने मात्र से नहाना और कपड़े धोने चाहिए और 'कापालिक' सम्प्रदाय के शैव को स्पर्श करने से इनके अलावा प्राणायाम भी करना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि पाशुपत

धर्म एक सार्वजनिक भावना पर टिका था और जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाकर सारी मानवता को एक करना चाहता था। इस कारण ईसवी सन् के आस-पास उत्तरी भारत में शकों, पह्लवों और कुषाणों के आने से इस धर्म की विशेष उन्नति हुई। शक राजा मोग के सिक्कों पर सोटा-त्रिशूल-धारी शिव की आकृति मिलती है, पह्लव राजा गुन्डफर्न के कुछ सिक्कों पर शिव को जटा बांधे और लम्बा त्रिशूल लिए हुए दिखाया गया है। इस राजा की उपाधि देवव्रत भी शायद इसके शैव होने की ओर संकेत करती है। कुषाण सम्राट कदफिस प्रथम के सिक्कों पर खाल लपेटे हुए शिव की तसवीर है और कदफिस द्वितीय के सिक्कों पर उनके त्रिशूलधारी रूप को अंकित किया गया है। हुविष्क के सिक्कों पर शिवलिंग मिलता है और वासुदेव अपने को शिवोपासक घोषित करता है। इस जमाने में 'शिवरक्षित', 'शिवसेन', 'रुद्रसेन', 'रुद्रसिंह' आदि नाम भी इन लोगों में काफी चल पड़े थे। इनके माध्यम से शैव धर्म भारत से बाहर मध्य एशिया में भी फैला जैसा कि पंजीकन्द में रूसी पुरातत्त्वविदों द्वारा प्राप्त त्रिशूलधारी, कृत्तिवास, नीलवर्ण, नटराज शिव के चित्र से प्रकट होता है। महाभारत (६. १२. २६) के एक पाठ से भी पता चलता है कि शाकद्वीप (मध्य एशिया) में शिव की पूजा प्रचलित थी। इस प्रकार यह धर्म सार्वभौम रूप लेता जा रहा था।

त्रिकदर्शन : आगम, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

शैव धर्म का रूप बाद में त्रिकदर्शन अथवा आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में निखरा। इसका विकास कश्मीर में हुआ। इसने पाशुपतों, कापालिकों और कालमुखी के गन्दे आचारों, जैसे शराब पीना, राख मलना, खोपड़ी में रखकर भोजन करना, श्मशान में बलिकर्म करना आदि, की भर्त्सना की और ध्यान और ज्ञान को परम पद की प्राप्ति का मुख्य साधन बताया। स्पन्दशास्त्र का प्रतिपादन वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट (नवीं सदी) का काम था। उन्होंने सिद्ध किया कि परम शिव विश्व का स्वात्मैक्य रूप है। उसमें स्पन्दन होता है। इससे उसका चिन्मय रूप शिव तत्त्व के रूप में प्रकट होता है। इसका नियमन शक्ति-तत्त्व द्वारा होता है। शिव-शक्ति के योग से सादाख्य (मैं यह हूँ) तत्त्व बनता है। इससे ऐश्वर (यह मैं हूँ) आविर्भूत होता है। फिर कई श्रेणियों से होता हुआ सृष्टि-क्रम चलता है। शिव न तो सृष्टि का भौतिक कारण है, और न यह केवल भ्रान्ति या माया से उत्पन्न होता है, बल्कि वह उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा अपनी इच्छा-शक्ति से विश्व को इस प्रकार पैदा करता है जैसे शीशे में चीजें दिखाई देती हैं। शीशे में चीजें असली लगती हैं लेकिन शीशा इनसे अलग होता है और उस पर इनकी छाप नहीं होती। इसी तरह शिव में संसार मौजूद है लेकिन वह इससे अछूता है। जीवात्मा अनेक

'मलों' के कारण अपने को भिन्न और स्वतंत्र समझती है, लेकिन जब ध्यान द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं तो उसे शिव के साथ अपनी एकता का साक्षात्कार होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के विकास का श्रेय सोमानन्द, उनके शिष्य उदयाकर और उनकी कृतियों के टीकाकार अभिनवगुप्त (रचनाकाल ९९३–१०१५) को है। इन्होंने स्पन्दशास्त्र की बहुत सी बातों को मान लिया और सिद्ध किया कि सब कुछ शिव की ज्योति से उद्भासित है और हम सब शिव ही हैं, किन्तु शिव होते हुए भी हमें अपने इस रूप की पहचान नहीं है। जब कोई हमें यह पहचान करा देता है कि हम शिव हैं तो हम अपने को शिव जानने लगते हैं। यही पहचान या प्रत्यभिज्ञा चरम लक्ष्य है।

वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदाय

शैव धर्म का एक उत्कृष्ट रूप बारहवीं सदी में कर्णाटक में सामने आया। अल्लमप्रभु और उनके शिष्य बसवण्ण ने, जो बाद में प्रधान मन्त्री के पद तक पहुँचा, वीरशैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके अनुसार शुरू में केवल शिव की सत्ता थी। वह निरालम्ब था। उसे 'सर्वशून्य' कहते हैं। उसके साथ उसकी शक्ति थी। इस शक्ति के कारण उसमें अपनी चेतना पैदा हुई। वह 'शून्यलिंग' बन गया। इसमें भी विभेद नहीं था। यह 'निष्कल ब्रह्म' था। इसके बाद वह 'महा-लिंग' बना और फिर उसने पाँच मुँह वाले 'सदाशिव' का रूप धारण किया। उसके पाँच मुँहों से पाँच सादाख्य पैदा हुए जिनसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व निकले। उसकी आँखों और मन से सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई और छुपे हुए मुँह (गोप्य मुख) से जीवात्मा का विकास हुआ। जीवात्मा को पर-मात्मा (शिव) से एकाकार होने के लिए छः 'स्थलों' (दर्जों) से गुजरना पड़ता है। ये हैं 'भक्तस्थल' (इसमें भक्ति भाव पैदा किया जाता है), 'महेश्वरस्थल' (इसमें विश्वास और निश्चय पैदा किया जाता है), 'प्रसादीस्थल' (इसमें भगवान् की पुष्टि या कृपा के अलावा और किसी बात को हेय समझा जाता है), 'प्राणलिंगीस्थल' (इसमें मन के भीतर ही भगवान् के प्रसाद की अनुभूति की जाती है), 'शरणस्थल' (इसमें अद्वैत या एक शिव का साक्षात्कार किया जाता है), और 'लिंगांगसामरस्य' (इसमें अंग या जीवात्मा लिंग या परमात्मा के साथ एक हो जाती है)। यह दिव्य अनुभूति किसी जाति या वर्ग की बपौती नहीं है। इस पर मानवमात्र का अधिकार है। अतः वीरशैव धर्म सबके लिए खुला है। इसमें कश्मीर से चोल, चेर, पाण्ड्य तक के और गुजरात से उड़ीसा तक के लोग शामिल हुए। इनकी दृष्टि में सब व्यवसायों के लोग समान थे। धोबी, मल्लाह, नाई, बनबटे, पिसनये आदि एक धरातल पर थे। हरकय्य शूद्र का लड़का मधुवरस ब्राह्मण की लड़की से ब्याहा गया था। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के लोगों ने एक ओर 'शून्य' का अर्थ रिक्तता न कर

इसे उपनिषद् के ब्रह्म के बराबर विधेयात्मक सिद्ध किया और समस्त विश्व और मानवता को सत्य घोषित किया और दूसरी ओर मानव मात्र की समानता को प्रतिपादित कर एक बड़ी सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया। इनका आकर ग्रन्थ 'शून्य सम्पादने' कर्णाटक विश्वविद्यालय से हाल ही में छपा है।

वासुदेव कृष्ण और वैष्णव धर्म का विकास

शैव धर्म की तरह वैष्णव धर्म भी समन्वय और समानता का समर्थक था। ६०० ई० पू० से पहिले देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण ने इसे नया रूप दिया। पाणिनि के संस्कृत व्याकरण के एक सूत्र (४. ३. ९८) पर पतंजलि के भाष्य से यह अनुमान होता है कि कृष्ण क्षत्रिय नहीं थे। महाभारत के सभा पर्व (४२. १; ४१. ६) में शिशुपाल उन्हें दास और गोप कहता है। लगता है कृष्ण किसी छोटी जाति, शायद चरवाहों, से संबंध रखते थे। मथुरा के इलाके में उनकी जाति का जोर था, किन्तु वहाँ से उनकी जाति को पश्चिमी भारत में गुजरात जाना पड़ा। उन दिनों उत्तरी भारत में काफी उथल-पुथल हो रही थी। कौरव गिरते जा रहे थे। पाण्डवों से उनकी खटपट थी। इन लोगों में ईरानी तत्त्व शामिल थे। इनके कुछ रस्म-रिवाज भी कौरवों से भिन्न थे। इन्होंने कृष्ण के मत को अपनाया और कुरुक्षेत्र के युद्ध में कौरवों पर विजय पाने के बाद उसका प्रसार किया। कृष्ण के साथ-साथ पाण्डव-वीर अर्जुन भी पूजा का पात्र बन गया। दोनों की पूजा चल पड़ी और उनके भक्त 'वासुदेवक' और 'अर्जुनक' कहलाने लगे। धीरे-धीरे वैदिक देवता विष्णु और वैदिक ऋषि नारायण, जिन्हें तैत्तिरीय आरण्यक (१०. ११. १) में मिलाकर एक देवता कर दिया गया है, वासुदेव कृष्ण के साथ एक कर दिये गये। यही नहीं धीरे-धीरे वासुदेव कृष्ण के नाती-गोतियों को भी देवता का स्थान मिला। पर अर्जुन का रंग फीका पड़ गया। वे सब उपनिषद् के दर्शन की मान्यताओं के प्रतीक बन गए। इससे पांचरात्र मत का विकास हुआ। पांचरात्र शब्द शतपथ ब्राह्मण (१३. ६. १) में आया है। पुरुष नारायण ने 'पांचरात्र सत्र' किया जो पांच रात तक चला और जिससे सृष्टि का विकास हुआ। इसके विकास क्रम से भगवान के पाँच रूपों की ओर संकेत है। वैष्णवों ने इन पाँच रूपों को पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा (मूर्ति) का नाम दिया। उनका मत है कि भगवान् वासुदेव स्वयं अपनी इच्छा और शक्ति से, जिस का नाम 'सुदर्शन' है, क्रमशः इन पाँच रूपों में प्रकट हुए। इस कारण यह मत पांच-रात्र कहलाया।

पांचरात्रमत और 'व्यूह' सिद्धान्त

पांचरात्र मत से समस्त सृष्टि का बीज 'पौरुषी रात्री' (प्रलय) के रूप में

भगवान् वासुदेव में सिमटा हुआ है। उसकी शक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और भूति शक्ति, जिन्हें मन, प्राण और भौतिक प्रकृति की क्षमताएँ कहा जा सकता है, जाग्रत हुईं। उससे ६ गुण, ज्ञान, एश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज, बने। इनमें ज्ञान और बल, एश्वर्य और वीर्य, और शक्ति और तेज के तीन जोड़े हैं। इन जोड़ों को 'व्यूह' कहते हैं। ये तीन व्यूह 'सकर्षण' (वासुदेव कृष्ण का भाई बलराम), 'प्रद्युम्न' (वासुदेव कृष्ण का पुत्र) और 'अनिरुद्ध' (उनका पौत्र) हैं। इनके ऊपर 'वासुदेव' व्यूह है। सबसे ऊपर 'पर वासुदेव' है। इन चार व्यूहों से सोलह उपव्यूह बनते हैं और फिर उनमें से चार विघ्नेश्वर निकलते हैं। ये सब मिलकर वासुदेव की चौबीस मूर्तियाँ होती हैं। इसके बाद भगवान् अपने आपको प्रकृति के विविध रूपों में प्रकट करता है। ये उसके 'विभव' हैं। इन्हें 'अवतार' भी कहते हैं। भागवत पुराण के अनुसार इनकी संख्या असीम है। विश्वक्सेन संहिता के अनुसार आम का पेड़ तक भगवान का अवतार है। अहिर्बुध्न्य संहिता में ३९ अवतारों की सूची है जिसमें 'शान्तात्मा' बुद्ध का परिचायक है। ये सब अवतार मूर्तियों के रूप में पूजे जाते हैं। पूजा के पाँच अंग हैं, 'अभिगमन' (देवता की ओर जाना), 'उपादान' (पूजा की सामग्री पत्र, पुष्प, फल, नैवेद्य, धूप, दीप आदि जमा करना) 'इज्या' (इस सामग्री को देवता पर चढ़ाना), 'स्वाध्याय' (शास्त्रों को पढ़ना और मंत्रों को जपना) और 'योग' (ध्यान लगाना और भगवान् का सायुज्य प्राप्त करना)। इन सबका सार भक्ति है।

वैष्णव धर्म का सार्वजनिक दृष्टिकोण

वैष्णव धर्म का दृष्टिकोण सार्वजनिक था। यह वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों से मुक्त था। प्राचीन पांचरात्र संहिताओं में इसकी सतत अवहेलना मिलती है। उनके विचार से मानव मात्र एक है : ब्राह्मण और शूद्र, उच्च और नीच, देशी और विदेशी सभी भगवान की दृष्टि में शुद्ध हैं। भागवत पुराण (२. ४. १८) में लिखा है कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आमीर, सुम्ह, यवन, खश और दूसरे बहुत से पापी लोग भगवान् का आश्रय लेकर शुद्ध हो जाते हैं। कौटिल्य के 'अर्थ-शास्त्र' से पता चलता है कि वासुदेव कृष्ण की जाति वृष्णि के लोगों को ब्राह्मणों से घृणा थी और गीता में ब्राह्मण और चाण्डाल की एकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। स्वभावतः वैष्णव धर्म का निचली और विदेशी जातियों में काफी प्रचार हुआ। ईसा से पहिले चौथी-तीसरी सदी में मेगेस्थनीज ने लिखा कि मध्य देश में मथुरा, वृन्दावन (कृष्णपुर) के इलाके में हिरेक्लीज की पूजा का रिवाज था। इससे वासुदेव कृष्ण का बोध होता है। इस नाम का शायद इसलिए प्रयोग किया गया है कि यह 'हरि' के नाम से मिलता-जुलता है। धीरे-धीरे यह

मध्य-प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र तक फैल गया जैसा कि विदिशा, घोसुण्डी और नानाघाट के शिलालेखों से ज्ञात होता है। शुंग, कण्व, सातवाहन आदि वंशों के कुछ राजाओं के अलावा विदेशी यवन, शक, कुषाण इसके पक्के अनुयायी हो गए। ईसा से पूर्व दूसरी सदी में यूनानी राजा अन्तलिकित (अन्तियलकिदस्) द्वारा विदिशा के राजा कौत्सीपुत्र भागभद्र की सभा में भेजे हुए राजदूत, तक्षशिला निवासी हेलिओदोर (हेलिओदोरस) ने 'भागवत' उपनाम गृहण किया और 'देवदेव वासुदेव' की भक्ति के निमित्त एक गरुडध्वज खड़ा कराया और उस पर इस धर्म के तीन नैतिक सिद्धान्त—दम, त्याग और अप्रमाद—अंकित कराए, जिनके आचरण से स्वर्ग मिलता है (त्रीनी अमुत पदानि (सु) अनुढ़ितानि नयन्ति स्वग दम छाग अप्रमाद)। ये तीनों सिद्धान्त ठीक इसी क्रम से महाभारत (स्त्रीपर्व, ७. २३–२५) में मिलते हैं (दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणोदयाः)। इससे स्पष्ट है कि इस यूनानी वैष्णव ने महाभारत का अच्छी तरह अध्ययन किया था और इसे इसके मूल सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान था। यूनानियों के अलावा शकों और कुषाणों को भी इस धर्म से अच्छी दिलचस्पी थी। कुषाण वंश के तीन राजाओं का नाम वासुदेव है और प्रसिद्ध निकोलो मुद्रा पर एक कुषाण राजा घुटनों के बल झुककर शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति की पूजा करते हुए दिखाया गया है। इस ज़माने में वैष्णव धर्म का ईरानी जगत् से गहरा संबंध स्थापित हुआ। महाभारत के शान्ति पर्व के महानारायाणीय पर्व से पता चलता है कि नारदमुनि ने क्षीरोद सागर (शीरवान अथवा केस्पीयन सागर) के पार श्वेतद्वीप (रूसी प्रदेश जिसे शाकद्वीप भी कहते हैं, में जाकर नारायण हरि की उपासना की। वहाँ उन्हें गौर वर्ण के मुनि नारायण की भक्ति करते हुए मिले। ये लोग मानस जप और सूक्त, सुमत और सुकृत (अच्छा बोलना, सोचना और करना) के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। इनमें पशुबलि की मनाही थी और ये देवता पर सिर्फ धान्य चढ़ाते थे (शान्ति पर्व ३२४. ४. ५. १२)। इस [प्र]कार वैष्णव धर्म भी सार्वभौम मानवता का प्रतिपादक था।

[भा]रतीय समाज में भेद की अवस्था

ईसवी सन् की शुरूआत के समय इन लोक धर्मों और विदेशी शासन के फलस्वरूप भारतीय समाज में जबरदस्त उथल-पुथल हुई। पुराने वैदिक धर्म और इससे संबंधित सामाजिक व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा। इसने अपने को सम्भालने के लिए अपने आचार-विचार के ढाँचे को दृढ़ करने का प्रयत्न किया जो धर्मशास्त्र और स्मृति के ग्रन्थों में परिलक्षित है। स्मृतिकारों ने वर्णों, आश्रमों, कृत्यों कानूनों, प्रशासन आदि को कड़े नियमों में बांधना चाहा। इससे धर्म और संस्कृति में कठोरता आई। स्त्रियों की हालत और शूद्रों का दर्जा गिरा साथ ही सार्वजनिक

धर्मों को आगे बढ़ने का अवसर मिला। इससे ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि भारतीय संस्कृति के कदाचित् दो टुकड़े हो जाएँ। ऐसा लगने लगा कि यह टूटने वाली है। अतः जरूरत इस बात की हुई कि इसकी खाई को पाटा जाए, इसकी दरार में चूना लगाया जाए और इसके दोनों भागों को समन्वित किया जाए। यह काम पुराणों ने किया।

पुराणों द्वारा वैदिक व्यवस्था और भागवत धर्म का समन्वय

पुराणों की परम्परा बहुत पुरानी है। इनका संबंध वेदों की ऐतिहासिक व्याख्या से है। कहावत है कि इतिहास और पुराण से वेद का उपबृंहण करना चाहिए। अश्वमेध यज्ञ में जो पारिप्लव-आख्यान सुनाए जाते थे उन्होंने पुराण का रूप धारण किया। अतः प्रसिद्ध है कि यज्ञ से पुराण का जन्म हुआ। शुरू में इसके पाँच विषय थे, सर्ग (सृष्टि की कथा), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद सृष्टि का पुनर्भाव), वंश (देवताओं, राक्षसों, ऋषियों और राजाओं के वृत्तान्त), मन्वन्तर (युग चक्रों का आवर्तन) और वंशानुचरित (राजवंशों का वर्णन)। इसका पठन-पारायण ब्राह्मणों के हाथ में था जो यज्ञ में भाग लेते थे। लेकिन जब यज्ञ, विशेषतः अश्वमेध, से पारिप्लव आख्यान निकल गए तो पुराणों से ब्राह्मणों का संबंध टूट गया और सूतों, चारणों और कथा-वाचकों ने इसे अपने हाथ में लिया। ईसवी सन् के आरम्भ के समय भागवत लोक धर्मों ने इन्हें अपने प्रचार का माध्यम बनाया। अतः अधिकतर पुराणों और उप-पुराणों का विस्तार इन धर्मों के आधार पर हुआ। किन्तु गुप्तकाल में जो धर्म और संस्कृति के सब सूत्रों को इकट्ठा करने का प्रयास हुआ उसने समूचे साहित्य की काया पलट की और पुराणों को भी नया चोला पहनाया। फलतः पुराण, वेद, स्मृति, भागवत धर्म और बौद्ध-जैन विचारधारा के समन्वय के माध्यम बन गए। इन्होंने भारतीय धर्म की खाई को पाट दिया और इसके वेदपक्ष और लोकपक्ष को एक कर दिया। संस्कृति के इतिहास में यह बहुत बड़ा काम था।

महापुराण और उपपुराण

पुराण साहित्य को दो भागों में बाँटा जाता है, अठारह महापुराण और अठारह उपपुराण। वायु, ब्रह्माण्ड. मार्कण्डेय, विष्णु, मत्स्य, भागवत, कूर्म, वामन, लिंग, वाराह, पद्म, नारदाय, अग्नि, गरुड़, ब्रह्म, स्कन्द, ब्रह्मवैवर्त और भविष्य महापुराण है। उपपुराणों का परिगणन विभिन्न प्रकार से हुआ है किन्तु बृहद्धर्म पुराण (१. २५. २३–६) के अनुसार इनकी सूची इस प्रकार है, आदि, आदित्य, बृहन्नारदीय, नारदीय, नन्दीश्वर, बृहन्नन्दीश्वर, साम्ब, क्रियायोग सार, कालिका, धर्म, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्म, विष्णु धर्म, वामन, वारुण, नारसिंह, भार्गव और

बृहद्धर्म । महापुराणों में 'वायु', 'ब्रह्माण्ड', 'मार्कण्डेय', 'विष्णु', 'मत्स्य' और 'भागवत' पुराने हैं और इनमें उस काल तक की सामग्री है जब गुप्त-सम्राटों का राज्य मगध से लगाकर अयोध्या और प्रयाग तक था, किन्तु इनमें बाद में भी कुछ घटा बढ़ी की गई। जैसे, शुरू में 'वायु' और 'ब्रह्माण्ड' एक थे और इसकी रचना २०० ई० के आस पास हुई, लेकिन ४०० ई० के लगभग ब्रह्माण्ड इससे अलग किया गया। 'वायु' पाशुपत धर्म का ग्रन्थ रह गया और 'ब्रह्माण्ड' का रूप वैष्णव हो गया। इन दोनों में बाद में तांत्रिक और शाक्त सामग्री जोड़ी गई। 'मार्कण्डेय' ३०० ई० के करीब की कृति है लेकिन इसमें देवी माहात्म्य बाद में शामिल किया गया। 'कूर्म' और 'वामन' ५००–६०० ई० के करीब के पांचरात्र पुराण थे लेकिन ८००–९०० ई० के लगभग इन्हें शैव रूप दिया गया। 'अग्नि' और 'गरुड़' ९००–१००० ई० के विश्वकोश के नमूने के ग्रन्थ हैं। 'भविष्य' बहुत पुराना है लेकिन इसमें बहुत आजादी से बढ़ोतरी की गई और अब इसमें ब्रिटिश शासन तक का जिक्र मिलता है। उपपुराणों में भी बहुत से काफी पुराने हैं। 'विष्णु धर्म' तीसरी सदी ई० और 'शिवपुराण' २०० और ५०० ई० के बीच का है। किन्तु अधिकतर उपपुराण ६५० और ८०० ई० के मध्य लिखे गये। इनमें भी 'विष्णुधर्मोत्तर' जैसे पुराण ज्ञान और विद्या के विश्वकोश हैं।

पुराणों में वैदिक विचारों का नया रूप

पुराणों में वैदिक विचारों, देवताओं और कथानकों को नवीन विश्वासों, मान्यताओं और आख्यानों की ओढनी उढ़ाई गई है। इनमें चिन्तन-मनन का सारा ठाठ वैदिक है। वेद के अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष, ब्रह्म, विष्णु और शिव हो गए हैं। वेद की त्रिधाम विद्या या सप्तधाम विद्या (ऋग्वेद १. २२. १६) विष्णु के वामनावतार की कथा में परिणत हुई है। वेद की दक्ष-अदिति-विद्या (ऋग्वेद १०. ७२) ने दक्ष-यज्ञ के विध्वंस की कथा का रूप लिया है। वेद की अग्नि-चयन-विद्या (यजुर्वेद ११–१८) मत्स्यपुराण (१४५–१५९) का कुमार-जन्म-वृत्तान्त बन गई है। वेद की चित्र-शिशु-विद्या, जिसे शतपथ ब्राह्मण में अग्नि-रूप-विद्या कहा गया है, मार्कण्डेयपुराण के रौद्र सर्ग (५२. १–९) की अष्टमूर्ति-विद्या के साथ जुड़ गई है। वे इसी प्रकार वेदों की सोम-विद्या, विराजधेनुविद्या, देवासुर विद्या, भृग्वंगिरोमय-अग्निसोमविद्या, पितृविद्या, सावित्रीविद्या और पशुविद्या क्रमशः समुद्रमन्थन, पृथुपृथिवीदोहन, इन्द्रवृत्रोपाख्यान, सुकन्याच्यवन विवाह, श्राद्धकल्प, सावित्री सत्य-वान कथा और पाशुपतशास्त्र के पौराणिक आख्यानों में उपबृंहित हो गई हैं। इनके द्वारा वैदिक धर्म ने नए भारतीय धर्म का चोला पहना है। यह कहना ठीक नहीं है है कि वेद और पुराण में कोई मौलिक भेद है।

पुराणों में भागवत धर्म और वर्णाश्रम व्यवस्था का समन्वय

अपनी समन्वयमूलक दृष्टि के कारण पुराणों ने वर्णाश्रम धर्म को फिर से बैठाने की कोशिश की और शैव और वैष्णव धर्मों को इसके साँचे में ढाल दिया। विष्णु पुराण (३. ८. ६–११) में राजा सगर के यह पूछने पर कि विष्णु की पूजा कैसे करनी चाहिए और्व ने उत्तर दिया कि "वही व्यक्ति परमेश्वर की पूजा कर सकता है जो अपने वर्ण और आश्रम संबंधी कर्तव्य को पूरा करता हो"। कूर्म पुराण (१. १२) में देवी के मुँह से यह कहलवाया गया है कि "मोक्ष की प्राप्ति के लिए आत्मज्ञान के साथ-साथ वेदविहित स्मृतिसम्मत वर्णाश्रम धर्म का पालन करो"। वायुपुराण (६८. ६६) में लिखा है कि "जब यज्ञों में कमी हो जाती है तो भगवान विष्णु बारम्बार धर्म की स्थापना के लिए जन्म लेते हैं"। इस पुराण (३०. २१८) में शिव को वर्णों और आश्रमों के पृथक् कर्मों का प्रवर्तक बताया है। पुराणों में वर्णाश्रम धर्म की पुष्टि के लिए अनेक कथाएँ गढ़ी गई हैं। विष्णुपुराण (१. १३), वायुपुराण (६२. १०३–१२६) और भागवत पुराण (४. १४) में राजा वेन की कथा में लिखा है कि वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना के अपराध में ऋषियों ने उसे यमलोक पहुँचाया। विष्णु पुराण (३. ७. २०) में यम अपने नौकरों को हिदायत करते हैं कि वे विष्णु के उपासकों को हाथ न लगाएँ, क्योंकि वे वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हैं। बाद की सभी पांचरात्र संहिताओं में वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार किया गया है। इस तरह पुराणों के माध्यम से शैव और वैष्णव धर्म पुरानी सामाजिक व्यवस्था के पोषक बन गए और धार्मिक परम्परा की फूट मिट गई।

पुराणों पर महायान धर्म का प्रभाव

जहाँ पुराणों ने वेद धर्म को भागवत धर्म के साथ समन्वित किया वहाँ उन्होंने महायान बौद्ध धर्म के महाकरुणा और लोकमंगल के आदर्श को भी अपनाया। मार्कण्डेय पुराण (१५. ५६) में विदेह के राजा विपश्चित की कथा में शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार (३. ७–६) से मिलते-जुलते विचार प्रकट किए गए हैं। इस राजा को अच्छे कर्मों के कारण स्वर्ग प्राप्त हुआ, लेकिन किसी मामली गलती से कुछ क्षणों के लिए नरक में रहने का दण्ड मिला। जब वह नरक में पहुँचा और उसने वहाँ के लोगों की करुण चीत्कार सुनी तो उसका हृदय पिघल गया और उसने यह संकल्प कर लिया कि स्वर्ग के सुखों का आनन्द लेने से नरक में रहकर दुखी लोगों की सेवा करना ज्यादा अच्छा है। उसने सुख से सेवा को बेहतर समझा और स्वर्ग जाने का इरादा छोड़ दिया। इन्द्र और यम के समझाने पर भी वह अपने विचार पर अटल रहा। अन्त में मजबूर होकर यम को नरक के सारे निवासियों का उद्धार

करना पड़ा, तब कहीं उसने स्वर्ग जाने की हाँ भरी। इसी प्रकार इस पुराण (८. २६४–६७) में राजा हरिश्चन्द्र की कथा में लिखा है कि जब देवदूत उसे शुभ कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग ले जाने लगे तो उसने उत्तर दिया कि राजा जो कुछ करता है प्रजा के सहयोग से करता है, अतः उसके कर्मों का फल भी सभी प्रजा में बंटना चाहिए। उनका एक दिन का सुख उसके अपने अनन्त आनन्द से बेहतर है। इन विचारों और भावों में बोधिसत्त्व का आदर्श सन्निहित है जिसके कारण पौराणिक धर्म को विश्वजनीन प्रेरणा और स्फूर्ति मिली।

पुराणों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के भागों का संगम

यद्यपि पुराणों में भारतवर्ष को कर्मभूमि और पुण्यभूमि कहा गया है, फिर भी उनके लेखकों की दृष्टि समस्त ज्ञात विश्व और उसमें बसने वाले प्राणिमात्र पर है। साथ ही उनमें कर्म और मोक्ष, प्रवृत्ति और निवृत्ति, का सुन्दर समन्वय है। उनके अनुसार संसार में आकर कर्म करना मनुष्य का कर्तव्य है। विद्याप्राप्ति समाप्त कर विवाह करना, गृहस्थ जीवन बिताना, लोकसंग्रह के काम करना हर आदमी के लिए अनिवार्य है। प्रव्रज्या और गृहत्याग लोक विरुद्ध होने के कारण निन्द्य हैं। मनुष्य में कर्म करने और उसके द्वारा सुख पाने की जो असीम शक्ति है उसका विकास लौकिक जीवन द्वारा ही सम्भव है; किन्तु लोक-जीवन बिताते हुए उसे 'साधारणधर्म' और 'स्वधर्म' का सामंजस्य करना चाहिए। 'साधारणधर्म' सार्वजनिक और सार्वभौम हैं। इनमें अहिंसा, क्षमा, शम और दम (इन्द्रियनिग्रह), दया, दान, शौच, सत्य, तप, ज्ञान शामिल हैं (पद्मपुराण, २. ६६. ५; अग्निपुराण, १६१. १७; कूर्मपुराण, २. ६५–७; गरुड़पुराण, २२१. २४)। इनमें अहिंसा सर्वोपरि है (पद्मपुराण, १. ३१. २७)। इसमें सब धर्मों का सार है। इसका उद्देश्य है कि दूसरों के लिए ऐसा मत करो जैसा तुम अपने लिए नहीं चाहते (पद्म पुराण, १. ५६. ३३)। अहिंसा के साथ सत्य जुड़ा हुआ है। सत्य वह है जिससे प्राणियों का भला होता है (अग्निपुराण, ३७२. ७)। इसलिए मनुष्य को अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिए (वही, ३७२. ८)। मन को काम और क्रोध से मुक्त करना आवश्यक है। इसके लिए इष्टदेव की भक्ति अपेक्षित है। किन्तु देवताओं में विभेद करना, या किसी देवता की निन्दा करना बहुत बड़ा अपराध है, क्योंकि सब देवता मूलतः एक हैं (नरसिंह पुराण, १५. ५८. ५९)। इस 'साधारणधर्म' के ढाँचे में व्यक्ति को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिए जिसका संबंध उसकी जाति, वर्ग, आश्रम और स्वभाव से है। इसके अनुसार व्रत, दान, और प्रायश्चित का विधान है। इस प्रकार पुराणों में सार्वभौम नैतिक आदर्शों को राष्ट्रीय संस्कृति के सूत्र में पिरोया गया है।

कालिदास का सौन्दर्य-दर्शन

पुराणों में जिस धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय का परिपाक हुआ उसने लालित्य की नई भावना को जन्म दिया जो गुप्तकालीन साहित्य और कला की प्राण है। इस भावना की अमर प्रतिमा संस्कृत कवि कालिदास हैं। कालिदास के काल के विषय में मतभेद है किन्तु इसमें सन्देह नहीं लगता कि वे चौथी पाँचवी सदी के समन्वयात्मक और समृद्धिपूर्ण वातावरण की देन हैं। उन्होंने अपने काव्यों 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश और 'मेघदूत' —और नाटकों 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल'—में इस वातावरण को साकार रूप दिया है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के शुरू में उन्होंने अष्टमूर्ति शिव की जो स्तुति की है उसमें वैदिक तत्त्वज्ञान और पाशुपतधर्म और पौराणिक मान्यताओं का सुन्दर सामंजस्य है। यह अष्टमूर्ति शिव मन या प्रज्ञान, प्राण के दो रूप, विकास और संकोच, भूत के पाँच तत्त्वों से बनी सृष्टि का पर्याय है। स्रष्टा सृष्टि के इन तीनों रूपों को अपने भीतर समेटे केवल आतमरूप से विराजता है (कुमारसम्भव २. ४)। जब उसमें सृष्टि करने की इच्छा (सिसृक्षा) होती है तो वह अपने आपको पुरुषतत्त्व और स्त्रीतत्त्व में विभक्त कर लेता है। ये पुरुष और स्त्री पुरातन पिता-माता हैं और इनका स्वरूप हर पुरुष और स्त्री में विद्यमान है। (वही, २. ७)। इनकी शरीर-रचना में जो सब द्रव्यों का 'यथा प्रदेश विनिवेश' (अपनी-अपनी जगह ठीक से रखना) है वही सौन्दर्य है (कुमारसम्भव, १. ४९)। किसी द्रव्य, वस्तु या अंग का नाम सौन्दर्य नहीं है अपितु द्रव्यों, वस्तुओं और अंगों के सन्निवेश से सौन्दर्य की सृष्टि होती है। रूप, रस, गन्ध का सन्निवेश ही फूल का सौन्दर्य है ; नख से शिखा तक अंगों का सुश्लिष्ट सन्धिबन्ध ही नारी का सौन्दर्य है (ध्वन्यालोक १. ४)। विधाता तत्त्वों और द्रव्यों के समन्वय द्वारा जो सृष्टि करता है और कलाकार रेखाओं और रंगों के संयोग से जो चित्र बनाता है उसका गुण सौन्दर्य है। सूर्य की किरणों से उद्भिन्न कमल और चित्रकार की तूलिका से उन्मीलित चित्र प्रकृति और संस्कृति के रूप में सौन्दर्य की सृष्टि हैं (कुमार-सम्भव, १. ३२)। इस सौन्दर्य को बाह्य रूप देने के लिए विधाता और कलाकार को पहिले इसे अपने मन में अनुभव करना पड़ता है। कालिदास कहते हैं कि शकुन्तला को बनाने से पहिले ब्रह्मा ने उसे चित्त में परिकल्पित किया होगा (चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगाद्रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता तु)। इसी प्रकार दिलीप की रचना करते समय उसने महाभूत समाधि धारण की होगी (तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना)। जब स्रष्टा मन में तत्त्वों और अंगों के समन्वय की परिकल्पना करता है तो उसकी मनःस्थिति को समाधि कहते हैं। यह समाधि जितनी गहरी होती है सौन्दर्य की सृष्टि उतनी ही पूरी होती है (इयेष कर्तुमवन्ध्य-

रूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः) (कुमारसम्भव ५. २) और यह जितनी ढीली होती है सौन्दर्य की उपलब्धि उतनी ही कम होती है (मालविकाग्निमित्र २. २)। अतः समाधि और सौन्दर्य का गहरा नाता है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य मन द्वारा अनुभूत समन्वय की भौतिक रूप में अभिव्यंजना है। कलाकार-चितेरा, शिल्पी या कवि—भौतिक साधनों द्वारा इस मन की स्थिति को व्यक्त करने का प्रयास करता है। इसके लिए रंग और रेखा, छेनी और पत्थर, शब्द और अर्थ, साधन या प्रतीक बन जाते हैं। उनके व्यंजना-कार्य को 'ध्वनि' कहते हैं।

कालिदास की दृष्टि में सृष्टि और कला का पारस्परिक संबंध

कालिदास विधाता की सृष्टि और मनुष्य की सृष्टि को एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं मानते। दोनों के मिलन से ही सौन्दर्य का असली रूप निखरता है। मालिनी की रेती में खेलते हुए हंस-मिथुन, पर्वत की तलहटी में मृग के सींग से आँख खुजलाती हुई मृगी और वृक्षों की शाखाओं पर सूखती हुई ऋषियों के बल्कलों के अंकन से ही चित्रमयी शकुन्तला का लावण्य पूरी तरह खिलता है। किन्तु प्रकृति का निरा भौतिक रूप सौन्दर्य की पूर्ण निष्पत्ति नहीं है। आध्यात्मिक सघनता के साथ मिलकर ही यह पूर्ण सौन्दर्य को जन्म देती है। पार्वती का सारा रूप और प्रकृति की सारी शोभा उस समय तक वन्ध्य हैं जब तक इनमें तपस्या का योग नहीं होता। प्राकृतिक चारुता और आध्यात्मिक अभ्युदय के योग से जो सौन्दर्य बनता है उसमें विश्व का सारा समन्वय खिंच आता है अर्थात् साक्षात् भगवान् लीन हो जाता है। पार्वती के तप से शिव के आकर्षण की यही कहानी है। यही मनुष्य की महानता और उसका गौरव है। विभिन्न प्रतीकों द्वारा इसकी व्यंजना करने से ही कालिदास मानव-मात्र के श्रेष्ठ कवि हैं।

कालिदास द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के आदर्श में शक्ति और मर्यादा का संतुलन

कालिदास ने मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का जो समन्वय किया है उसमें शक्ति, स्फूर्ति और उन्नति है। वे ढीले-पीले झुके, दबे, गिरते-पड़ते मनुष्य का चित्रण नहीं करते, बल्कि चौड़ी छाती वाले, बैल जैसे कन्धों वाले, शाल जैसे कद्दावर आदमियों की बात करते हैं। लेकिन इन लम्बे-चौड़े व्यक्तियों में शक्ति उद्रेक मर्यादा के बन्धनों में बंधा है। उनकी कर्मण्यता व्यवस्था की अपेक्षा रखती है। वे बचपन में विद्या पढ़ते हैं, जवानी में विषयों का भोग करते हैं; बुढ़ापे में मुनि-वृत्ति धारण करते हैं और अन्त में योग द्वारा शरीर का त्याग करते हैं (रघुवंश १. ८)। उनके लिए कोरी नीति कायरता है और निरा शौर्य पशुधर्म है (रघुवंश, १७. ४७)। वे यज्ञ के लिए विजय करते हैं, रक्षा के लिए शस्त्र चलाते हैं, रणभूमि में

अजेय हैं किन्तु ऋषियों के आश्रमों में शस्त्र-मुकुट उतार और रथ छोड़कर पैदल प्रवेश करते हैं और आश्रम-वासियों से अत्यन्त नम्रता का व्यवहार करते हैं। कालिदास द्वारा प्रस्तुत यह मर्यादित व्यवस्था और संतुलित जीवन का आदर्श एकदम अनूठा है। इसने भारतीय धर्म और संस्कृति को विशिष्ट बल दिया है।

कालिदास और संस्कृत साहित्य का उत्थान

ऊपर जो कालिदास के समन्वय और सौन्दर्य संबंधी विचारों की चर्चा की गई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वे भारतीय कला और साहित्य में रस-ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। उनके प्रयास से ये नीति और दर्शन से स्वतंत्र होकर अपने पैरों पर खड़े हुए। तभी से विशुद्ध रूप में इनकी सृष्टि होने लगी। अनेक काव्य और नाटक उनके नाम पर चलने लगे और कई लोग अपने को कालिदास कहने लगे। उन्होंने अपने समय के अनेक कवियों जैसे घटकर्पर, वेताल-भट्ट आदि को ग्रह लिया और बहुतेरों के यश को फीका कर दिया। उनके काल में राज दरबार साहित्य-सृजन के केन्द्र थे। समुद्रगुप्त, मातृगुप्त, प्रवरसेन आदि राजा स्वयं कवि थे। उनके हरिषेण आदि मंत्री उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उनके बनाए हुए अभिलेख और प्रशस्तियाँ सुन्दर काव्य के निदर्शन हैं। लेकिन इन सबके रहते हुए भी वह युग कालिदास से इस तरह उद्‌भासित है जैसे रात्रि तारों से भरी होने पर भी चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती होती है। उनके युग के साहित्यकारों में से केवल विशाखदत्त, शूद्रक, वररुचि, श्यामिलक, ईश्वरदत्त, प्रवरसेन की रचनाएँ बची हैं। उनके परवर्ती कवियों में भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ, श्रीहर्ष; नाटककारों में हर्ष, भवभूति, मुरारि, भट्टनारायण; और गद्यकारों में दण्डी, बाण, सुबन्धु, धनपाल प्रसिद्ध हैं। लेकिन सब पर उनकी गहरी छाप है और समूचा साहित्यशास्त्र उनके सौन्दर्य दर्शन पर टिका है। इसी प्रकार मथुरा और सारनाथ की प्रस्तर कला और अजंता की चित्रकला उनकी चिर-ऋणी है। लौकिक साहित्य तथा भारतीय संस्कृति को कालिदास की यही अमर देन है।

बृहत्तर भारत का सांस्कृतिक निर्माण

पुराणों और कालिदास के युग में संस्कृति का जो उफान आया वह भारत से बाहर बहुत दूर तक फैला। अफगानिस्तान और मध्य-एशिया में बामयान, बलालिक-तेपे, तोपराक काला, पंजीकन्द और वरक्ष नामक स्थानों से भारतीय शैली से प्रभावित अनेक चित्र मिले हैं। किन्तु दक्षिण-पूर्वी एशिया में इस संस्कृति का विशेष प्रसार हुआ और यह वस्तुतः बृहत्तर भारत बन गया। इस क्षेत्र का भारत के साथ ऐतिहासिक काल के पहिले से ही

व्यापारी संबंध था, लेकिन ईसवी सन् के प्रारंभ से इस संबंध ने एक नया सांस्कृतिक रंग पकड़ा। भारतीय व्यापारियों, नाविकों, यात्रियों, धर्म प्रचारकों और घुमक्कड़ लोगों के झुण्ड के झुण्ड समुद्र पार दक्षिण-पूर्वी एशिया के तटवर्ती प्रदेशों में बसने लगे। उन्होंने मेकोङ़ की घाटी, मलाया प्रायद्वीप, और सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि द्वीपों में अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं। धीरे-धीरे ये स्थानीय लोगों में घुलने-मिलने लगे, उनके साथ ब्याह-शादी करने लगे, उनके सरदारों पर अपने आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, साहित्य, धर्म आदि का असर डालने लगे, और इस तरह उनको प्रभावित कर उनके दरबारों पर अपना सिक्का जमाने लगे। देखते-देखते ये बहुत से राज्यों के स्वामी बन गए। इस प्रकार भारतीय और स्थानीय अभिजात वर्गों के सम्पर्क, संबंध और सहयोग से इस सारे स्थान में अनेक नए राज्य स्थापित हो गए जिनमें भारतीय संस्कृति फलने-फूलने लगी। हिन्दचीन में फूनान, चम्पा, कम्बुज और अंकोर, इन्दोनेशिया में श्रीविजय, कडिरी, सिंहसारी, मजपहित आदि शक्तिशाली राज्य उठे-उभरे और वहाँ के इतिहास में दोपहर के सूरज की तरह चमके।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में शैव धर्म

जो भारतीय समुद्र पार कर दक्षिण-पूर्वी एशिया में गए उनमें प्रायः सभी प्रदेशों और सभी धर्मों के लोग शामिल थे, किन्तु उनमें, शुरू में, शैवों और बौद्धों का बाहुल्य था। जैसे प्राचीन यूनान में प्रवासी लोग नए उपनिवेशों में अपने पुराने नगरों से अग्नि ले जाया करते थे और उससे यहाँ नई अग्नि जलाते थे, उसी तरह भारतीय लोग अपने साथ शिवलिंग ले जाते थे, जो उनके आदिम नगरों या प्रान्तों के शिवलिंग का प्रतीक होता था, और जो उनकी नई बस्तियों का संरक्षक मझा जाता था। कालान्तर में यह शिव नए राज्यों का इष्टदेवता बन जाता । इसके साथ प्रवासियों के आदिम ऋषियों, जैसे अगस्त्य, कौण्डिन्य, भृगु का कीकरण हो जाता था। यह मानलिया जाता था कि यह शिव राजाओं में संक्रान्त है और इसकी पूजा के लिए ब्राह्मण पुरोहित नियुक्त किए जाते थे। प्रत्येक राज्य में शिव के बड़े-बड़े प्रासाद बनाए जाते थे और उनमें शास्त्रों का व्याख्यान होता था। फूनान में भववर्मा के संबंधी सोमशर्मा ने त्रिभुवनेश्वर का मन्दिर बनवाया और उसमें रामायण, महाभारत और पुराणों की प्रतियाँ रखवाईं और उनके दैनिक पाठ और प्रवचन का प्रबन्ध किया। जयवर्मा द्वितीय (८०२–८५०) के राज्य काल में भारतीय पण्डित हिरण्यदाम ने राजगुरु शिवकैवल्य को विनाशिख, नयोत्तर, सम्मोह और शिरश्छेद नामक शैवागमों की शिक्षा दी और देवराज (शिव और राजा का एकीकृत रूप) की पूजा का रिवाज चलाया। तब से प्रत्येक राजा मेरु के आकार

का पर्वतनुमा प्रासाद खड़ा कराकर उसके ऊपर शिवलिंग की स्थापना करवाता था। चम्पा में यह माना जाता था कि शिव लिंग से निकल कर राजा के रूप में अवतीर्ण होता है। अतः राजा का नाम शिव के साथ नत्थी हो जाता था। भद्रवर्मा ने मीसोन में जो शिवलिंग स्थापित कराया वह उसके नाम के अनुसार भद्रेश्वर कहलाया और उसके बाद शम्भूवर्मा ने उसे शम्भूभद्रेश्वर और इन्द्रवर्मा ने इन्द्र भद्रेश्वर का नाम दिया। मलाया प्रायद्वीप में बूजांग नदी की घाटी में दस शिव-मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। बोर्नियों में कुंडुंग के पौत्र और अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा ने वप्रकेश्वर के मन्दिर में, जहाँ शिव या अगस्त्य की मूर्ति स्थापित थी, बहुसुवर्णक नामक दान किया, जिसमें बीस हजार गाएँ ब्राह्मणों को दान की गईं। जावा के शिव-मन्दिरों में दढ़ियल और पेट्ट भट्टारगुरु अगस्त्य का मूर्ति भी स्थापित की जाती थी। वहाँ शिव और अगस्त्य की पूजा का बहुत बाद तक रिवाज रहा।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में वैष्णव धर्म

शैवधर्म की तरह वैष्णव धर्म भी दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैला। कम्बुज (कम्बोदिया) के राजा जयवर्मा (४७५–५१४) की पत्नी कुल प्रभादेवी ने ब्राह्मणों की बस्ती कुरुम्बनगर में एक देवप्रतिमा स्थापित कराई और आश्रम, तालाब और धर्मशाला बनवाए। उसका नीअक तादम्बंग देक का शिलालेख विष्णु की स्तुति से शुरु होता है। उसके पुत्र गुणवर्मा ने चक्रतीर्थ स्वामी विष्णु के चरण चिह्न स्थापित कराए जैसा कि प्रोसात प्राम लोवन के अभिलेख में लिखा है। चम्पा में सातवीं सदी में वैष्णव धर्म के प्रचार के काफी चिह्न मिलते हैं। मलाया में विष्णुवर्मा नामक राजा की मुद्रा मिली है जिसके नाम पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है। इस सारे क्षेत्र में रामायण, महाभारत का बड़ा प्रचार था। मन्दिरों में इनकी प्रतियों का नित्य पाठ होता था। कम्बुज, लाओस, जावा और बाली से इनके स्वतन्त्र संस्करण मिले हैं। आज तक 'वायाङ' नामक कठपुतली के तमाशों में इनकी कथाओं की प्रधानता है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में शिव, विष्णु और बुद्ध का समन्वय

दक्षिण-पूर्वी एशिया में शिव, विष्णु और बुद्ध का सुन्दर समन्वय हुआ जिससे शिव-विष्णु (हरि-हर), शिव-बुद्ध, बुद्ध-विष्णु आदि देवताओं की पूजा का रिवाज हुआ। जावा में बोरोबोदूर (वरभूधर) के स्तूप-मन्दिर में ललितविस्तर, रामायण, महाभारत के कथानक समानान्तर अंकित मिलते हैं। कम्बोदिया की रामायण 'रामकीर्ति' में राम और बुद्ध का एकीकरण किया गया है। इसमें राम को बोधिसत्त्व बताया गया है और हरि और नारायण के नामों के साथ 'बोधिसम्भार' और

'बुद्धांकुर' विशेषण जोड़े गए हैं (रामकीर्ति, १. ५१ ; १. ५८)। जावा में शैव और बौद्ध धर्मों का सहज सामंजस्य हुआ है। सिंहसारी काल के मन्दिरों के एक हिस्से में प्रज्ञापारमिता, मंजुश्री और तारा की मूर्तियाँ मिलती हैं तो दूसरे भाग में गणेश, शिवलिंग, अगस्त्य, नन्दीश्वर, महाकाल, दुर्गा आदि की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। १३६५ ई० में प्रपंच कवि के लिखे हुए 'नगरकृतागम' महाकाव्य में एक मन्दिर का उल्लेख है जिसका निचला हिस्सा शिव की पूजा के लिए सुरक्षित था और ऊपरले तल्ले में ध्यानीबुद्ध अक्षोभ्य की पूजा होती थी। इस काव्य में लिखा है कि राजा कृतनगर ने 'शिवबुद्ध' की उपाधि धारण की थी। सिंहसारी और मजपहित (विल्वतिक्त) काल में शैव और बौद्ध धर्म एक ही राजधर्म के अभिन्न अंग बन गए थे। इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया में सब भारतीय धर्मों के समन्वय से एक महान संस्कृति का निर्माण हुआ जिसने वहाँ की कला, साहित्य और जीवन-शैली को विशिष्ट रूप दिया।

भारतीय संस्कृति के प्रसार का स्वरूप

भारतीय संस्कृति के इस प्रसार के पीछे भक्ति, ज्ञान और कर्म, धर्म, अर्थ और काम, योग, अनासक्ति और लोकसंग्रह को व्यावहारिक जीवन में संतुलित और संग्रथित करने की अपूर्व शक्ति सक्रिय है। इसमें साम्राज्यवादी विस्तार, औपनिवेशिक आधिपत्य और आर्थिक शोषण की गन्ध तक नहीं है। न इसमें राज-नीतिक उद्देश्य, कूटनीतिक षड्यन्त्र और सामरिक अत्याचार हैं। यह विशुद्ध सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

सातवां अध्याय

भारतीय चिन्तन की छः पद्धतियाँ

भारत के लोगों ने अनेक तरीकों से दुनिया को समझने की कोशिश की और अनेक दृष्टियों से इस पर विचार किया लेकिन वेद-उपनिषद् के मानने वाले लोगों में छः पद्धतियाँ रूढ़ हो गई। ये हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। यहाँ इन पर संक्षेप से विचार करना है।

न्याय-वैशेषिक

न्याय-पद्धति का मूल ग्रन्थ गौतम (ईसवी सन् के आस-पास) का 'न्याय-सूत्र' है। इस पर वात्स्यायन (लगभग तीसरी सदी) ने 'न्याय-भाष्य' और उद्योतकर (लगभग ६२० ई०) ने 'न्याय-वार्त्तिक' लिखा। 'न्याय-वार्त्तिक' पर वाचस्पति मिश्र (लगभग ८५० ई०) में 'न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका और उदयन (दसवीं सदी) ने 'न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-परिशुद्धि' तैयार की। जयन्त (नवीं सदी) की 'न्याय-मंजरी' भी इस दर्शन का अच्छा ग्रन्थ है। बाद में गणेश (लगभग १२०० ई०) ने तत्त्व-चिन्तामणि' लिखकर नव्य-न्याय का प्रारम्भ किया। यह अधिकतर तर्क और प्रमाण से संबंध रखता है। वैशेषिक दर्शन कणाद या उलूक (लगभग दूसरी सदी ई० पू०) के वैशेषिक-सूत्र से प्रारंभ होता है। इस पर प्रशस्तपाद (पाँचवी सदी) का 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' नाम का बहुत बढ़िया भाष्य है। इसमें काफी मौलिक सामग्री भी है। इस पर उदयन (दसवी सदी) की 'किरणावली' और श्रीधर (९९१ ई०) की 'न्याय-कन्दली' ये दो अच्छी टीकाएँ हैं। बाद के ग्रन्थों में न्याय वैशेषिक दोनों की खिचड़ी है। इनमें शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी' 'वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती' और विश्व-नाथ पंचानन का 'भाषा परिच्छेद' और इस पर 'सिद्धान्त मुक्तावली' नाम की टीका प्रसिद्ध हैं। न्याय और वैशेषिक एक-दो बातों को छोड़कर हर मामले पर एक जैसा दृष्टिकोण रखते हैं। इसलिए इन्हें इकट्ठा ही लिया जाता है।

पदार्थों की सत्ता

न्याय-वैशेषिक दुनिया की हर वस्तु को सही मानता है। इसका विचार है कि हम इसे जानें या न जानें यह अपनी जगह मौजूद है। इसकी पूरी कोशिश यही है कि हर वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करे और उन लोगों के मतों का खण्डन

करे जो इन्हें कल्पित समझकर मिथ्या कहते हैं। इसलिए इसकी बुनियादी बात यह है कि किसी चीज का जो नाम होता है उसे 'पद' कहते हैं, पद से जिसका बोध होता है वह पदार्थ कहलाता है, और प्रत्येक पदार्थ की सत्ता होती है। न सिर्फ वे चीजें, जो मौजूद हैं (भाव), सही हैं, बल्कि वे भी जो मौजूद नहीं हैं (अभाव)। जो चीजें मौजूद हैं उनका आधार 'द्रव्य' कहलाता है। इसके साथ कुछ पदार्थ हमेशा जुड़े रहते हैं। उन्हें 'गुण' कहते हैं। कुछ पदार्थ कभी-कभी जुड़ते और हटते हैं। इनका नाम 'कर्म' है। साथ ही एक और पदार्थ लगा रहता है जिसकी वजह से इसे किसी वर्ग में रखकर इसका कोई नाम रखा जाता है। यह 'सामान्य' है। लेकिन इसमें एक और पदार्थ भी होता है जिसके कारण यह वर्ग में अपनी अलग हैसियत रखता है। इसके लिए 'विशेष' शब्द प्रयुक्त होता है। फिर इन सब पदार्थों को आपस में एक दूसरे से मिलाने वाला भी एक पदार्थ होता है। इसे 'समवाय' की संज्ञा दी जाती है। यह चीजों के एक दूसरे से समय-समय पर इच्छानुसार या प्राकृतिक तौर से मिलने और अलग होने की क्रिया (संयोग) से भिन्न होता है। चीजों का मौजूद न होना (अभाव) भी एक पदार्थ है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव को अलग-अलग पदार्थ माना है। बाद के लेखकों ने 'अवयव' और 'अवयवी' दोनों को अलग पदार्थ सिद्ध किया है। यानी कपड़े में धागे और कपड़ा ये दो पदार्थ हैं। चीजों में नए गुणों और कर्मों का पैदा होना और उनमें से पहिले से मौजूद गुणों और कर्मों का नष्ट होना बना रहता है। लेकिन वैशेषिकों के मत के अनुसार, जैसे ही यह होता है, पहिली चीज़ खत्म हो जाती है और इसकी जगह दूसरी आ जाती है। जब आवे में पकते समय घड़े का रंग भूरे से नीला और नीले से लाल होता है तो वह खत्म होता और फिर से बनता जाता है। इसी तरह जब कपड़े को रंगते हैं तो कोरा कपड़ा खत्म हो जाता है और रंगीन कपड़ा उसकी जगह आ जाता है। यह बिगड़ने बनने का क्रम जीवधारियों में निरन्तर चलता है और जड़ वस्तुओं में उस समय होता है जब उनके द्रव्य और गुण में कोई परिवर्तन होता या किया जाता है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि हर चीज में अदला-बदली या खत्म होना और तैयार होना चलता रहता है। यों कहिए कि हर वस्तु पदार्थ रूपी पात्रों के आने-जाने और मिलने-हटने से चलने वाला नाटक है। किन्तु पदार्थों की सत्ता नित्य होने से इसे उस तरह क्षणिक नहीं कहा जा सकता जैसे बौद्ध कहते हैं।

नौ प्रकार के द्रव्य

द्रव्य नौ प्रकार के हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा। इनमें पहिले पंचभूत कहलाते हैं। इनके विशेष गुणों का इन्द्रियों द्वारा

सीधा (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो सकता है। वास्तव में इन्हीं के तत्त्वों से इन्द्रियाँ बनती हैं। इसलिए वे इनके गुणों को सीधा ग्रहण कर लेती हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु परमाणुओं से बनते हैं। ये परमाणु नित्य हैं और इन द्रव्यों की सबसे छोटी इकाइयाँ हैं। इनका आदि या अन्त नहीं होता। पाँचवें द्रव्य आकाश का कोई सीमित आकार या रूप नहीं होता। यह शब्द का सर्वव्यापी आधार है और शब्द के ज्ञान से इसका पता लगता है। आकाश की तरह दिक् और काल भी नित्य और सर्वव्यापी हैं। वस्तुओं के कारण, उपाधि-भेद से, ये अलग-अलग हिस्सों में बँटे जान पड़ते हैं। मन एक मशीन है जो सुख, दुःख आदि के अनुभव का साधन है और आत्मा वह द्रव्य है जो सुख-दुःख के अनुभव का आधार है। प्रत्येक इन्द्रिय के कार्य करते समय मन की मशीन भी चलती है। इसी से एक समय में वस्तु के एक गुण पर ही उससे संबंधित इन्द्रिय काम करती है। जब मन का आत्मा से सम्पर्क होता है तभी आत्मा में चेतना उत्पन्न होती है। अगर यह सम्पर्क न हो तो आत्मा में चेतना पैदा नहीं हो सकती। इस तरह आत्मा, मन, शरीर और बाहरी वस्तुएँ एक अनिवार्य संबंध में बंधे रहते हैं, जिससे चेतना की उत्पत्ति होती है।

चौबीस गुण

गुण चौबीस हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व (भारीपन), द्रवत्व (बहने का गुण), स्नेह (चिकनाई), संस्कार (सुधरना), धर्म (पुण्य अर्थात् विहित कर्मों को करना) और अधर्म (पाप अर्थात् निषिद्ध कर्मों को करना)। इनके अनेकानेक भेदोपभेद हैं।

पाँच कर्म

कर्म पाँच प्रकार के हैं, उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे फेंकना), आंकुचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन (चलना)। गुण और कर्म में अंतर यह है कि गुण में गति नहीं है और कर्म में गति है। गति कर्म का मुख्य लक्षण है।

सामान्य और विशेष

सामान्य के तीन भेद किए जा सकते हैं, पर (जो बहुत व्यापक हो), अपर (जो कम व्यापक हो) और परापर (जो पर और अपर के बीच की स्थिति में हो)। 'सत्ता' (होना) 'पर' है, 'घड़ापन' 'अपर' है, क्योंकि वह घड़ों में ही रहता है,

द्रव्यत्व (द्रव्यों का होना) दोनों के बीच का होने के कारण 'परापर' है। सामान्य का उलटा विशेष है। इससे वस्तुएँ अपने-अपने निजी रूपों में रहती हैं।

समवाय

ऊपर बताए गए सब पदार्थों की आपस में जोड़ने वाला पदार्थ समवाय कहलाता है। यह संयोग से भिन्न है। क्योंकि संयोग आकस्मिक है जैसे नाव और पानी, जबकि यह नित्य है जैसे पानी और इसका बहना।

अभाव

अभाव नाम का पदार्थ दो प्रकार का है, संसर्गाभाव (एक वस्तु का दूसरी वस्तु में न होना), अन्योन्याभाव (एक वस्तु का दूसरी वस्तु न होना)। संसर्गाभाव तीन प्रकार का है, प्रागभाव (किसी वस्तु के बनने से पहिले उसके भौतिक कारण (समवायी कारण) में उसका न होना, जैसे घड़ा बनने से पहिले मिट्टी में उसका न होना), ध्वंसाभाव (किसी वस्तु के टूटने के बाद उसके भौतिक कारण में उसका न होना, जैसे घड़ा फूटने के बाद उसके ठीकरों में उसका न होना), और अत्यन्ताभाव (कभी भी, किसी काल में भी, किसी वस्तु का किसी दूसरी वस्तु में न होना जैसे हवा में कभी भी रूप का न होना)।

ईश्वर या इंजीनियर

परमाणुओं के संयोग से भौतिक द्रव्य बनते हैं। फिर उनमें अन्य पदार्थों के जुड़ने से वस्तुएँ तैयार होती हैं। इस क्रिया में हर कर्म अपनी छाप छोड़ता चलता है। हर कर्म का फल होता है जो दूसरे कर्म का कारण बनता है। लेकिन प्रश्न यह है कि इस सब प्रक्रिया का संचालन कौन करता है। यह महत्व की बात है कि इसका उत्तर देते हुए न्याय और वैशेषिक सूत्र ईश्वर को बीच में नहीं लाते। न्याय सूत्र (१. १. ९) में ईश्वर का साफतौर से जिक्र नहीं है ; वैशेषिक-सूत्र (२. १. १८) में वेद को मेधावी पुरुषों की कृति बताया गया है। न्याय-सूत्र (४. १. १९) में संकेत किया गया है कि ऐसा लगता है कि कर्म को ही पूरा कारण मानने में कठिनाई होने से ईश्वर के कर्तृत्व को माना जाता है लेकिन अगले सूत्र में इसका खण्डन किया गया है। तीसरे सूत्र 'तत्कारित्वादहेतुः' की व्याख्या ईश्वर को सिद्ध करने या न करने दोनों के लिए की गई है। भाष्यकारों ने ज़रूर ईश्वर को मान्यता दी है लेकिन उन्होंने उसे सिर्फ एक इंजीनियर का स्थान दिया है जो कल-पुर्जों को जोड़ कर इंजिन को तैयार करता और चलाता है। उनके मत से वह परमाणुओं को नहीं

बनाता बल्कि उन्हें जोड़कर वस्तुएँ तैयार करता है। यानी जैसा वह नित्य है वैसे ही परमाणु नित्य हैं। वह तो सिर्फ उनका जोड़-तोड़ करने वाली एजेन्सी है। अब इसे प्राकृतिक शक्ति कहिए या पदार्थों की अपनी शक्ति कहिए या उनकी आपस में मिलने-जुलने की क्षमता कहिए या उनके स्वभाव की विशेषता कहिए या एक दम आकस्मिक बात कहिए या ईश्वर कहिए, अन्तर कुछ नहीं पड़ता। हर दशा में यह स्पष्ट है कि इस दर्शन में ईश्वर का वह रूप नहीं है जो अन्य भक्ति प्रधान धर्मों में है।

ज्ञान प्राप्त करने के उपाय

न्याय वस्तुओं का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के चार उपाय बताता है, प्रत्यक्ष (इन्द्रियों द्वारा सीधे ग्रहण किया जाने वाला वस्तुओं का ज्ञान), अनुमान (पहिले ज्ञान के अनुसार वस्तुओं के स्वरूप का अन्दाजा), उपमान (समता के द्वारा प्रत्यक्ष वस्तु से सुने हुए नाम की मिलान) और शब्द (दूसरों के कहे से किसी बात को मानना)। वैशेषिक उपमान और शब्द को अनुमान में ही शामिल करता है। इस तरह जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसमें मुक्ति और तर्क सबसे अधिक काम करते हैं। इसलिए न्याय वैशेषिक वस्तुवादी होने के साथ-साथ बुद्धिवादी भी है।

सांख्य-दर्शन

न्याय और वैशेषिक के अलावा जगत् और जीवन पर विचार करने की एक और भारतीय पद्धति सांख्य है। इसके साथ योग का गहरा संबंध है। इसलिए आमतौर से सांख्य और योग को साथ-साथ लिया जाता है। सांख्य का मूलग्रन्थ कपिल का सांख्य सूत्र है। किन्तु इसके काल का कोई निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता। सबसे पुराना सांख्य का ग्रन्थ जो इस समय मिलता है वह ईश्वरकृष्ण की 'सांख्य-कारिका' है। ५५७–६९ ई० में इसका चीनी अनुवाद हुआ। इस विषय पर गौड़पाद (यह वेदान्ती गौड़पाद है या कोई और यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता) ने 'सांख्यकारिकाभाष्य', वाचस्पति मिश्र (लगभग ८५० ई०) ने 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' और विज्ञानभिक्षु (लगभग १६५० ई०) ने 'सांख्यसार' और 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखे।

प्रकृति और पुरुष

सांख्य के अनुसार जगत् का मूल प्रकृति है। इसके तीन भाग हैं। इनका नाम सत्त्व, रज और तम है। इसे इन तीन डोरियों (गुणों) से बटी हुई रस्सी कहा जा सकता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि प्रकृति अगणित तत्त्वों से बनी है और इन

तत्त्वों की तीन श्रेणियाँ सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीन भाग अलग-अलग होते हुए भी आपस में मिलकर काम करते हैं। इनके विकास और परिणाम से बहुरूपी दुनिया बनती है। सत्त्व हल्कापन, रोशनी और खुशी होती है, रज में गति, क्रिया और क्षोभ रहते हैं और तम में भारीपन, स्थिरता और रुकावट का भाव है। लेकिन अपने आप में ये तीनों जड़ हैं और प्रारंभ में साम्यावस्था (equilibrium) में रहते हैं। इनमें गति उत्पन्न करने के लिए चेतना की जरूरत है। यह चेतना प्रकृति से भिन्न है। सांख्य इसे 'पुरुष' कहता है। यह अपनी उपस्थिति मात्र से प्रकृति में चेतना का संचार करता है। इससे इसके तीनों हिस्सों सत्त्व, रज और तम में विकास होता है। किन्तु इसका काम वैसा ही होता है जैसा रासायनिक पदार्थों में उत्प्रेरकों (catalysts) का। प्राणियों के शरीर में और उससे बाहर भी, बहुत से प्रकिण्व (enzymes) उत्प्रेरक (catalyst) का काम करते हैं। ये प्रकिण्व अपने आप बिना बदले अन्य योगों में रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। जैसे, आमाशयी रस (gastric juice) से पैदा होने वाला किण्व रेनिन (rennin) अपनी उपस्थिति ही से, बिना खुद अदले बदले, अपने से कम से कम चार लाख गुने वजन के केसीन (दूध से जमने वाले प्रोटीन) को जमा देता है। इसी प्रकार पुरुष भी बिना अपने आप बदले सत्त्व, रज और तम में चेतना पैदा कर उन्हें परिवर्तन और विकास के पथ पर अग्रसर करता है। पुरुष अनेक और अनन्त हैं।

कारण कार्य की प्रक्रिया

प्रकृति में जो परिवर्तन और परिणाम होते हैं वे सब उसकी आन्तरिक क्षमता की अभिव्यक्ति हैं। प्रत्येक कार्य अपने कारण में ही निहित होता है। इसका प्रकट होना कारण का परिणाम मात्र है। तेल तिलों में अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद रहता है, वृक्ष बीज में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। इन्हें प्रकट करने के लिए बाह्य परिस्थिति अपेक्षित है। तिलों से तेल निकालने के लिए तेली और कोल्हू चाहिए और बीज से वृक्ष उगाने के लिए माली, भूमि, खाद और पानी। ये सब एक ही प्रक्रिया के अंग बनकर तिल या बीज में तेल या वृक्ष रूपी परिणाम उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार कारण-कार्य की प्रक्रिया समस्त प्रकृति के समन्वित विकास का रूप है।

प्रकृति का विकास

उपर्युक्त प्रक्रिया से प्रकृति में जो विकास होता है उसका रूप सांख्य इस प्रकार बतलाता है। प्रकृति अन्धी है तो पुरुष लंगड़ा। लेकिन ये दोनों आपसी सहयोग से चलते हैं। इससे सृष्टि होती है (पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः) (सांख्य-

कारिका, २१)। सबसे पहिले प्रकृति में चेतना के योग से 'महद्' या 'बुद्धि' (cosmic intelligence) उत्पन्न होती है। इससे अहंकार (principle of individuation) की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार सत्त्व, रज और तम में तीन रूप लेता है। ये तीन रूप सात्त्विक अहंकार, राजस अहंकार और तामस अहंकार हैं। विज्ञान भिक्षु के मतानुसार सात्त्विक अहंकार से मन, राजस अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय (आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) और पाँच कर्मेन्द्रिय (मुँह, हाथ, पैर, गुदा और लिंग) और तामस अहंकार से पाँच 'तन्मात्र' (subtle matter) अर्थात् बोलने, छूने, देखने, चखने और सूंघने के विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—के सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते हैं। किन्तु ईश्वर कृष्ण और वाचस्पति मिश्र के मत से पांचों ज्ञानेन्द्रिय, पाँचों कर्मेन्द्रिय और मन सात्त्विक अहंकार से, उत्पन्न होते और पाँचों तन्मात्र तामस अहंकार से। राजस अहंकार तो इन्हें शक्ति देकर इनकी केवल सहायता करता है। कुछ भी हो, अहंकार के तीन रूपों से सोलह चीजें बन जाती हैं। फिर पाँच तन्मात्रों (subtle matter) से पाँच भूत (gross matter) बनते हैं। शब्द तन्मात्र से आकाश, शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र के योग से वायु, शब्द और स्पर्श तन्मात्रों और रूप तन्मात्र के योग से अग्नि, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्रों और रस तन्मात्र के योग से जल और शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रों और गन्ध तन्मात्र के योग से पृथ्वी बनते हैं। इस प्रकार जगत् के विकास में प्रकृति से लेकर पाँच भूतों तक चौबीस तत्त्व सक्रिय रहते हैं। इनकी संख्या ढंग से निश्चित करने के कारण ही यह दर्शन सांख्य कहलाता है।

पुरुष सत्त्व, रज और तम तीनों प्रकार के प्रकृति के तत्त्वों में चेतना का संचार करता है। इस प्रकार प्रकृति के विकास और परिणाम में चेतना के साथ सत्त्व, रज और तम तीनों का योग होता है। फेखनर (Fechner) ने सिद्ध किया है कि सारे विश्व में एक चेतना है जिससे वृक्ष और पशु अपनी-अपनी चेतना प्राप्त करते हैं। वुन्त (Wundt) ने प्रमाणित किया है कि प्रोटोजोआ से मनुष्य तक सबमें चेतना है।

सत्त्व, रज और तम की पृथकता और सहयोग

आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध किया है कि जैविक, भौतिक और मानसिक पदार्थ एक दूसरे के सहयोग से काम करते हैं। जैविक अवयवियों (biological organisms) में भौतिक पदार्थ को जीव के साथ आत्मसात् करने की प्रवृत्ति, जिसे उपापचय (metabolism) कहते हैं, निरन्तर चलती रहती है। इनमें बराबर भौतिक जगत् का स्वांगीकरण (assimilation) होता रहता है। पेड़-पौधे सूर्य की विकरण ऊर्जा

(radiant energy) को ग्रहण कर उससे वे योग तैयार करते हैं जिनकी उन्हें जरूरत होती है। पशु-पक्षी किण्वों (ferments) विटामिनों (vitamins) और अन्तःस्रावी स्रवणों (endocrine secretions) की रासायनिक क्रियाओं द्वारा अपना जीवन चलाते हैं। वास्तव में आजकल के विज्ञान में जैविक और भौतिक जगत् का भेद कम होता जा रहा है। जैसा कि व्हाइटहैड (Whitehead) ने लिखा है भौतिकी (physics) और जैविकी (biology) दोनों क्रमशः बड़े और छोटे शरीरियों की गवेषणा से संबंधित होते जा रहे हैं। जैविक और भौतिक जगत् के अन्तःसंबंध के साथ-साथ मानसिक जगत् का भी इनसे गहरा योग है। यह ठीक है कि मानसिक क्रियाएँ बहुत कुछ वल्कुट (cortex) के तंत्रिकीय परिवर्तनों (nerovus changes) द्वारा निर्धारित होती हैं पर यह भी सही है कि मानसिक आवेश कुछ तंत्रिकाओं द्वारा अधिवृक्क ग्रन्थि (adrenal gland) पर प्रभाव डालता है जिससे अधिक अड्रेनलिन का स्राव होता है और उससे एक ओर रक्तचाप (blood pressure) बढ़ता है और दूसरी ओर यकृत ग्लाइकोजन (liver glycogen) के अधिक गतिशील होने से रक्त में शकर का स्तर ऊँचा हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक, जैविक और मानसिक पदार्थों में अन्तःसंबंध रहता है। सांख्य भी मानता है कि चेतना के योग से सत्त्व, रज और तम से बने सभी पदार्थ अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे से मिलते हैं। सांख्य 'माइण्ड' और 'मैटर' दोनों को प्रकृति का रूप मानता है। इनके कार्य में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है।

योग दर्शन

सांख्य के इस तत्त्ववाद को बहुत कुछ योग ने ग्रहण किया है। योग दर्शन पतंजलि के 'योग सूत्र' से शुरू होता है। यह कहना कठिन है कि ये पतंजलि वही हैं जिन्होंने दूसरी सदी ई० पू० में पाणिनि के संस्कृत व्याकरण पर 'महाभाष्य' लिखा या कोई और। 'इनके 'योगसूत्र' पर व्यास ने अपना भाष्य लिखा और उस पर वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) ने 'तत्त्ववैशारदी' नाम की टीका लिखी। बाद में विज्ञान भिक्षु (१३५० ई०) ने इस विषय पर 'योगवार्त्तिक' और 'योगसार संग्रह' नाम के ग्रन्थ लिखे। योग-साधना पर 'हठयोग प्रदीपिका' आदि और भी बहुत से ग्रन्थ लिखे गए।

चित की वृत्तियाँ

योग दर्शन ने 'चित्त' का विस्तृत अध्ययन किया है। चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार के समूह का नाम है। आत्मा (पुरुष) की परछाईं से इसमें चैतन्य का आभास आ जाता है। इसकी पाँच वृत्तियाँ हैं, प्रमाण (ठीक ज्ञान), विपर्यय (मिथ्या

ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा (नींद) और स्मृति (स्मरण)। चूँकि चित्त पर आत्मा की परछाइँ रहती है इसलिए ऐसा लगता है कि ये वृत्तियाँ आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। लेकिन यह गलत है। इस ग़लती से पाँच प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं—अविद्या (अनित्य को नित्य समझना, ग़लत को सही मानना आदि), अस्मिता (बुद्धि या अहंकार को आत्मा समझना), राग (सुख और उसके साधनों को प्राप्त करने की इच्छा), द्वेष (दुःख और उसके कारणों से वैर) और अभिनिवेश (मौत का डर)। इन भ्रान्तियों को दूर करने के लिए चित्त की वृत्तियों का निरोध जरूरी है। किन्तु, जैसा विज्ञान भिक्षु ने लिखा है, यह निरोध चित्त की निषेधात्मक नहीं विधेयात्मक अवस्था है। इसका उद्देश्य आत्मा को चित्त के विकारों से अलग समझना है जिससे यह उनके फन्दे से निकल सके और उन पर अपना नियन्त्रण रख सके।

चित्त का निरोध

चित्त के निरोध की पाँच सीढ़ियाँ हैं। इन पर चढ़ते-चढ़ते ज़्यादा से ज़्यादा निरोध होता जाता है। इन्हें चित्तभूमियाँ कहते हैं। ये पाँच हैं, क्षिप्त (इसमें चित्त स्थिर नहीं रहता और एक विषय से दूसरे की तरफ दौड़ता रहता है), मूढ़ (इसमें नींद और सुस्ती आती है और कुछ समय के लिए चित्त की वृत्तियाँ ढीली पड़ जाती हैं), विक्षिप्त (इसमें चित्त एक समय में एक विषय पर टिकता है फिर उसे छोड़कर दूसरे पर चला जाता है और इस तरह उसमें आंशिक स्थिरता आती है), एकाग्र (इसमें चित्त देर तक एक विषय पर टिका रहता है) और निरुद्ध (इसमें चित्त विषय को भी छोड़ पूरी तरह टिक जाता है)। इनके बाद की दो भूमियों को 'सम्प्रज्ञात योग' और 'असम्प्रज्ञात योग' भी कहते हैं।

सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञात योग

'सम्प्रज्ञात योग' के चार श्रेणियाँ हैं। सवितर्क (इसमें चित्त को किसी स्थूल भौतिक चीज़ पर टिकाया जाता है), सविचार (इसमें चित्त को उस स्थूल भौतिक चीज़ के सूक्ष्म रूप (तन्मात्र) पर लगाया जाता है), और आनन्द (इसमें चित्त को चीज़ के सूक्ष्म रूप से भी सूक्ष्मतर विषय, जैसे इन्द्रिय, पर एकाग्र किया जाता है)। इन तीन श्रेणियों के वाद चौथी श्रेणी 'सास्मित' आती है। इसमें ध्यान का विषय केवल 'अस्मिता' (मैं) रह जाता है। इसके बाद यह अनुभव होता है कि आत्मा, शरीर, मन और अहंकार सबसे भिन्न है। यही 'असम्प्रज्ञात योग' या 'निरोध' की अवस्था है।

योग के आठ अंग

योग के आठ अंग हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम के पाँच भाग हैं, अहिंसा (किसी को किसी तरह का कष्ट न पहुँचाना), सत्य (किसी से किसी तरह का झूठ न बोलना), अस्तेय (किसी की कोई चीज़ या हक़ उसकी इच्छा के बिना न लेना), ब्रह्मचर्य (शरीर की वासनाओं से बचना) और अपरिग्रह (धन सम्पत्ति आदि का संग्रह न करना)। ये जैनों के महाव्रतों से मिलते-जुलते हैं।

नियम के भी पाँच भाग हैं, शौच (स्नान आदि के द्वारा शरीर को बाहर से साफ रखना और मैत्री, मुदिता, करुणा द्वारा इसे अन्दर से साफ रखना), संतोष (अपने प्रयत्न से जितना मिल सके उस पर संतोष करना), तप (गर्मी, सर्दी आदि कठिनाइयों को सहन करना), स्वाध्याय (दुनिया का अध्ययन और मनन करना और इसके लिए शास्त्रों से मदद लेना) और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर का ध्यान करना और अपने को उसके ऊपर छोड़ देना)।

आसन का अर्थ शरीर को ऐसी स्थिति में रखना है जिससे वह कुछ देर तक निश्चल रह सके। इससे शरीर स्वस्थ रहता है और मन को एकाग्र करने में भी मदद मिलती है। ये आसन कई प्रकार के हैं और अभ्यास से सीखे जाते हैं। इनका उद्देश्य शरीर पर नियंत्रण है।

प्राणायाम का अर्थ श्वास को कुछ देर के लिए नियंत्रित रखना है। इसमें पूरक (श्वास को भीतर खींचना), कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना) और रेचक (श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालना) द्वारा श्वास पर काबू करने का प्रयत्न किया जाता है। इससे भी शरीर पुष्ट होता है और मन एकाग्र होता है।

प्रत्याहार इन्द्रियों को अपने-अपने बाहरी विषयों से खींच कर हटाने को कहते हैं। इससे इन्द्रियों पर मन का इतना अधिकार हो जाता है कि उनके विषयों के रहते हुए भी वे उनसे सम्पर्क नहीं रखतीं। सामने चीज़ होते हुए भी हम उसे नहीं देखते और शब्द होते हुए भी हम उसे नहीं सुनते। यह संकल्प की मजबूती से होता है।

धारणा से चित्त को किसी विशेष विषय पर, मूर्ति या विचार पर, जमाया जाता है।

ध्यान से उस विषय पर निरन्तर विचार जारी रहता है जिससे उसका रूप पूरी तरह स्पष्ट हो जाए।

समाधि में मन उस विषय में पूरी तरह लीन और तन्मय हो जाता है और उसे अपने पराये के भेद का कोई ज्ञान नहीं रहता।

इस प्रकार योग नैतिक, शारीरिक और मानसिक संयम और संतुलन का मार्ग है। इसके द्वारा मनुष्य चित्त के वश से निकलकर स्वयं उसे अपने वश में करता है। यह मनुष्य की शक्ति, महत्ता और गौरव का परिचायक है।

योग में ईश्वर का स्थान

यद्यपि योग को ईश्वरवादी दर्शन कहते हैं लेकिन प्राचीन योग शास्त्र में ईश्वर का कोई विशेष महत्व नहीं है। पतंजलि को जगत् की समस्या हल करने के लिए ईश्वर की विशेष जरूरत नहीं दीखती। वे ईश्वर को चित्त को एकाग्र करने का साधन मात्र मानते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर का उतना सैद्धान्तिक मूल्य नहीं है जितना व्यावहारिक।

मीमांसा दर्शन

वस्तुवादी दर्शनों में मीमांसा का बहुत महत्व है। मीमांसा का अर्थ है युक्तियों की समीक्षा द्वारा किसी विषय या समस्या का निर्णय। इसका मूल ग्रन्थ जैमिनि का 'पूर्व-मीमांसा सूत्र' है। हो सकता है जैमिनि वेदान्त सूत्रों के रचयिता बादरायण के समकालीन हों। वे ईसा के जन्म से पूर्व रहे होंगे। उनके सूत्रों पर बोधायन, उपवर्ष और भवदास की वृत्तियों का जिक्र मिलता है लेकिन इस समय इन पर सबसे पहिला शबरस्वामी (लगभग २०० ई०) का भाष्य मौजूद है। शाबर-भाष्य पर कुमारिल भट्ट ने सातवीं सदी में 'श्लोकवार्त्तिक' 'तंत्रवार्तिक' और 'टुपटीका' नाम की टीकाएँ लिखीं। इनके अलावा उन्होंने 'बृहट्टीका' और 'मध्यम टीका' भी लिखीं जो अब लुप्त हो गई हैं। कुमारिल के शिष्य प्रभाकर स्वतन्त्र विचारों के विद्वान् थे। उन्होंने शाबरभाष्य पर 'बृहती' और 'लघ्वी' नाम की टीकाएँ लिखीं और उनमें कुछ नए मत प्रस्तुत किए। शालिकनाथ ने इन पर 'ऋजुविमला' और 'दीपशिखा' नाम की टीकाएँ लिखीं। कुमारिल के अन्य शिष्य मण्डन मिश्र भट्टोम्वेक ने भी इस विषय पर ग्रन्थ लिखे और प्रसिद्ध वाचस्पतिमिश्र (८५० ई०) ने इस पर 'तत्त्वबिन्दु' नाम का ग्रन्थ लिखा।

जगत् की सत्यता

मीमांसक जगत् और इसके विषयों को सत्य मानते हैं। कुमारिल के अनुसार पदार्थ पाँच हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। प्रभाकर 'अभाव' को पदार्थ नहीं मानते लेकिन परतंत्रता, सादृश्य और संख्या को पदार्थ मानते हैं। द्रव्य वह है जिसका परिमाण (साइज़) हो। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, प्रकाश, अन्धकार, दिक्, काल, शब्द, आत्मा और मन सब द्रव्य हैं। कुछ मीमांसक मानते हैं कि भौतिक

द्रव्य परमाणुओं से बने हैं, लेकिन ये परमाणु इन्द्रियग्राह्य हैं। उनके अनुसार आत्मा एक नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है। चैतन्य इसका वास्तविक स्वरूप नहीं बल्कि एक गुण है जो विशेष अवस्था में उत्पन्न होता है। जितने प्राणी हैं उतनी ही आत्माएँ हैं। परंतु जैमिनि ने आत्मा के बारे में कुछ नहीं लिखा है।

गुणों की संख्या

कुमारिल गुणों की संख्या चौबीस बताते हैं। उनकी सूची नैयायिकों की सूची से बहुत कुछ मिलती है। अन्तर इतना है कि कुमारिल शब्द, धर्म और अधर्म को गुण नहीं मानते और उनकी जगह ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति को गुण मानते हैं। ध्वनि वायु का गुण है और नित्य शब्द को प्रकट करता है। प्राकट्य वस्तुओं का वह गुण है जो उनके विषय में ज्ञान होने पर पैदा होता है। शक्ति द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य की सहज या आधेय (पैदा की हुई) क्षमता है। कारण की शक्ति से ही कार्य होता है। बीज अपनी शक्ति से ही पेड़ बनता है। अगर उसे भूनकर उसकी शक्ति खत्म कर दी जाये तो वह नहीं जमेगा। प्रत्येक कार्य कारण और उसकी शक्ति दोनों में निहित रहता है।

कर्म और अपूर्व

कर्म गोचर हैं। इससे पदार्थों में संयोग और वियोग होता है। इससे एक शक्ति उत्पन्न होती है जिसका नाम 'अपूर्व' है। यह वह शक्ति है जिससे कर्म के समाप्त हो जाने पर भी उसका फल पैदा होने की क्षमता बनी रहती है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि किसी कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता, बल्कि कुछ समय के बाद मिलता है। यह 'अपूर्व' है जो इस समय तक उस कर्म के फल को संचित रखती है।

अभाव की चर्चा

कुमारिल 'अभाव' को पदार्थ मानते हैं लेकिन प्रभाकर इससे सहमत नहीं हैं और कहते हैं कि अभाव का अर्थ केवल 'अधिकरण स्वरूप' है जैसे घड़े के न होने का मतलब केवल मिट्टी का होना है जिससे घड़ा बनता है यानी जो घड़े का 'अधिकरण' है।

सनातन विश्व

मीमांसा के अनुसार विश्व का न आदि है न अन्त। यह सदा से रहा है

और सदा रहेगा (न कदाचिद् अनीदृशं जगत्)। न इसकी सृष्टि हुई है न इसका प्रलय होता है। अतः ईश्वर इसके बारे में कुछ नहीं करता।

प्रत्येक ज्ञान सही है, भ्रम कुछ नहीं है

मीमांसा के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपने आप में प्रामाणिक है। इस ज्ञान में ही इसकी सचाई है। ऐसी स्थिति में भ्रम जैसी कोई बात नहीं है। जब हमें रस्सी साँप जैसी लगती है तो दो तरह के ज्ञान आपस में मिल जाते हैं, एक लम्बी टेढ़ी मेढ़ी चीज़ का प्रत्यक्ष ज्ञान और दूसरे पहिले कभी देखे हुए साँप की स्मृति। ये दोनों सत्य हैं। लेकिन स्मृति के दोष से हम यह भूल जाते हैं कि साँप स्मृति का विषय है, प्रत्यक्ष का नहीं। यह दोष भ्रम नहीं कहा जा सकता क्योंकि भ्रम केवल अज्ञान नहीं है बल्कि मिथ्या का सत्य के रूप में प्रतीत होना है जो कभी नहीं होता। प्रभाकर का यह सिद्धान्त 'अख्यातिवाद' कहलाता है।

कुमारिल का विचार कुछ भिन्न है। वे यह तो मानते हैं कि भ्रम विषयों को लेकर नहीं होता, लेकिन यह कहते हैं कि उनके संसर्ग को लेकर होता है। रस्सी और साँप दोनों सही हैं लेकिन इन दोनों का गलत ख्याल कर लिया जाता है जिससे रस्सी को साँप समझ लिया जाता है। इस सिद्धान्त को 'विपरीत-ख्यातिवाद' कहते हैं।

प्रभाकर और कुमारिल दोनों मानते हैं कि भ्रम का सम्बन्ध हमारे व्यवहार से है न कि वस्तुओं से।

मीमांसक और मतों की तरह दो प्रकार के ज्ञान मानते हैं—प्रत्यक्ष (जो सीधा वस्तुओं से प्राप्त होता है) और परोक्ष (जो सीधा प्राप्त नहीं होता, किसी और तरीके से प्राप्त किया जाता है)। कुमारिल के अनुसार परोक्ष ज्ञान अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति (अदृष्ट अर्थ की कल्पना यानी presumption) और अनुपलब्धि (जिससे अभाव की प्रतीति होती है) द्वारा प्राप्त होता है। प्रभाकर चूँकि अभाव को नहीं मानते इसलिए अनुपलब्धि के मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शब्द और अर्थ पर विचार

मीमांसा शब्द के प्रमाण को बहुत महत्व देती है। इसके अनुसार शब्द नित्य है। जो ध्वनियाँ हम रोज सुनते हैं वे केवल शब्दों के प्रकट रूप हैं। अगर ऐसा न हो तो हर ध्वनि बार-बार बोलने और सुनने पर अलग-अलग शब्द लगे। लेकिन ऐसा नहीं होता। एक ही शब्द बार-बार ध्वनित होता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है जो ध्वनियों के द्वारा बार-बार प्रकट होता है। शब्द हमारे गले से पैदा नहीं होता, केवल स्फुटित होता है।

कुमारिल का विचार है कि शब्द में अर्थ को सुनने वालों के मन में स्पष्ट

करने की शक्ति है। इसे 'अभिधाशक्ति' कहते हैं। इससे सुनने वालों को शब्दों के अर्थों का बोध हो जाता है। शब्दों के इन अर्थों को 'पदार्थ' कहते हैं। इन पदार्थों का 'आकांक्षा' (एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से जुड़ने की सामर्थ्य), 'योग्यता' (अर्थ-बोध में बाधा न होना) और 'सन्निधि' (समीपता) के कारण आपस में 'अन्वय' (सम्बन्ध) हो जाता है। इसके बाद शब्दों के अलग-अलग अर्थों से भिन्न एक मिले-जुले (अन्वित) अर्थ का बोध होता है जो वाक्य का अर्थ कहलाता है। यह वाक्य के अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति 'तात्पर्यवृत्ति' कहलाती है। इस मत को अभिहितान्वयवाद कहते हैं।

प्रभाकर कुछ दूसरे ढंग की बात करते हैं। उनके मत के अनुसार शब्द अपने अर्थों के साथ-साथ उन अर्थों के सम्बन्धों को भी प्रकट कर देते हैं। ऐसा नहीं होता कि शब्द पहिले अपने अलग-अलग अर्थों को प्रकट करते हों और बाद में उन अर्थों के सम्बन्धों को प्रकट करते हों। इसलिए इस मत को 'आन्विताभिधानवाद' कहते हैं। इस मत के अनुसार उपर्युक्त 'तात्पर्यवृत्ति' की ज़रूरत नहीं होती।

वेद और निष्काम कर्म

मीमांसा के अनुसार वेद नित्य शब्दों के भण्डार हैं। लिखित या उच्चरित वेद इस नित्य वेद का प्रकाशमात्र है। यह अपौरुषेय है। इसे किसी ने नहीं बनाया। इसमें जो कर्मों का विधान किया गया है वही मान्य है। देवता तो केवल इसलिए हैं कि इनके नाम पर ये कर्म किए जाते हैं। एक मीमांसक तो यहाँ तक कहता है कि कर्म करने का उद्देश्य किसी देवता की पूजा करना या उसे खुश करना नहीं है बल्कि पनी आत्मा को शुद्ध करना है। कर्म हमेशा यह मानकर करना चाहिए कि ऐसा रना वेद का आदेश है। अर्थात् कर्म निष्काम भाव से करना चाहिए। निष्काम ाव से किया गया कर्म ही निःश्रेयस की ओर ले जाता है। इस मत को लेकर ीमांसा ने वैदिक कर्मवाद को नया मोड़ दिया।

मीमांसा के सामाजिक और राजनीतिक विचार

मीमांसा के कुछ सामाजिक विचार भी बड़े महत्व के हैं। जैमिनि ने पूर्व-मीमांसा सूत्र (६.१.३,६,१६) में स्त्रियों के भी पुरुषों की तरह वैदिक यज्ञादि कर्म करने के अधिकार को मान्यता दी है। शबरस्वामी ने यहाँ तक कहा है कि पति द्वारा अर्जित धन और सम्पत्ति पत्नी की ही मानी जाती है इसलिए यह तर्क कि वे धन के अभाव में यज्ञ नहीं कर सकतीं बेकार है। जैमिनि शूद्र की स्थिति के बारे में भी स्पष्ट विचार रखते हैं। उनका कहना है ाक शूद्र किसी का दास नहीं है। यद्यपि वह सेवा करता है, उसकी स्वतन्त्र सामाजिक सत्ता है। इसलिए उसे दान

नहीं किया जा सकता (पूर्वमीमांसा, ६.७)। जैमिनि के राजनीतिक विचार भी अनोखे हैं। वे मानते हैं कि राजा को भूमि दान करने का हक नहीं है क्योंकि यह उसकी सम्पत्ति नहीं है (न भूमिस्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्) (पूर्वमीमांसा ६.७.३)। इस विषय में शबरस्वामी लिखते हैं कि भूमि पर जैसा राजा का अधिकार है वैसा और सबका (यावता भूभागेन सार्वभौमो भूमेरीष्टे तावतान्योऽपि)। राजा की विशेष बात केवल इतनी है कि वह लोगों की रक्षा करके उसके बदले में उनसे भूमि की उपज का कुछ भाग कर के रूप में लेता है। वह इस भाग का कुछ भी करे लेकिन भूमि से उसका कोई मतलब नहीं है (असौ पृथिव्यां सम्भूतायां व्रीह्यादीनां रक्षणेन निर्विष्टस्य कस्याचिद् भागस्येष्टे, न भूमेः)। भूमि पर सब प्राणियों का समान अधिकार है।

वेदान्त का विकास

जिस समय में जैमिनि ने 'पूर्व-मीमांसा-सूत्र' लिखे उसी काल में बादरायण ने 'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की। वेदान्त का अर्थ वेद का अन्त या अन्तिम भाग है। इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता है। उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान को ही बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में व्यवस्थित किया। ७०० ई० के करीब गौडपाद ने माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिकाएँ लिखी और इनमें बादरायण के मत को आगे बढ़ाया, लेकिन इस ग्रन्थ पर बौद्ध विचारों की भी गहरी छाप है। उनके शिष्य गोविन्द थे और गोविन्द के शिष्य शंकर हुए। शंकर को वेदान्त का निखरा रूप प्रस्तुत करने का श्रेय है।

शंकराचार्य का जीवन-चरित

शंकर का जन्म मालाबार में अलवाए नदी के किनारे कालडी गाँव में नम्बूदिरि ब्राह्मणों के एक परिवार में ७८८ ई० में हुआ। उनके पिता का नाम शिवगुरु और उनकी माता का नाम आर्याम्बा था। थोड़ी ही उम्र में इनके पिता का देहान्त हो गया। इनकी माता ने उनका पालन पोषण किया और गोविन्द गुरु के पास उन्हें दीक्षा दिलाई। उन्होंने थोड़ी आयु में ही सब शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर लिया और घर छोड़कर वेदान्त के प्रचार के लिए उत्तरी भारत की ओर चल पड़े। देश के कोने-कोने में घूमकर उन्होंने अन्य मतों के आचार्यों से शास्त्रार्थ किया। मालवा में माहिष्मती के इलाके के प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र से उनके वाद-विवाद का बड़ा महत्व है। मण्डन मिश्र और उनकी पत्नी भारती ने परास्त होकर उनका मत स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार चिदम्बरम् से कश्मीर, केदार और बदरिकाश्रम तक और द्वारका से काशी और जगन्नाथपुरी तक उन्होंने अनेक पण्डितों और दार्शनिकों को हराकर अपने मत में मिलाया। आनन्दगिरि के नाम पर प्रचलित

'शंकर विजय' और माधव द्वारा रचित 'शंकरदिग्विजय' में उनकी यात्राओं और शास्त्रार्थों का आख्यानिक वर्णन है। इनमें इतिहास का अंश कम है और किस्से-कहानियों का बाहुल्य है लेकिन इनसे यह सिद्ध होता है कि अपने जीवन काल में ही शंकराचार्य जीते जागते आख्यान बन गए थे। अथक यात्रा और अनवरत शास्त्रार्थ करते हुए भी वे बराबर लिखने का काम करते रहे। ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदों पर उनके भाष्यों ने विचारों के जगत् में सनसनी पैदा कर दी और उनके 'उपदेश साहस्री', 'आत्मबोध', 'आनन्दलहरी', 'दक्षिणामूर्ति', 'शिवापराधक्षमापण', 'हस्तामलक' आदि स्तोत्रों और काव्यों ने धार्मिक जीवन में नया जीवन फूँक दिया। इनके 'भजगोविन्दम्' नामक भजन ने तो जन-मानस को आध्यात्मिक हिलोर से आलोड़ित कर दिया। उनकी तार्किक प्रतिभा, और दार्शनिक प्रगल्भता और कवित्व शक्ति ने देश के कोने-कोने में नया स्पन्दन पैदा किया और जनता के हर भाग को नई स्फूर्ति दी। उन जैसा वाग्वैदग्ध्य, लेखनचातुर्य और प्रचारकौशल विरले ही लोगों में मिलता है। ऐसा ओजस्वी और वर्चस्वी व्यक्तित्व भारत में तो कदाचित् ही मिलेगा। इतनी साध, लगन और चेष्टा का जीवन बिताकर बत्तीस वर्ष की आयु में ही उन्होंने अपनी अद्भुत् ऐहिक लीला समाप्त की।

शंकराचार्य का संगठन कार्य

शंकराचार्य उच्चकोटि के संगठनकर्त्ता थे। उन्होंने भारत के चार कोनों में, पूर्व में जगन्नाथ पुरी में, पश्चिम में द्वारका में, दक्षिण में शृंगेरी में और उत्तर में बदरी में, चार प्रधान मठ कायम किए। ये मठ अपने-अपने क्षेत्र के मठों की व्यवस्था रते हैं। इनके अध्यक्ष शंकराचार्य कहलाते हैं। उनके नीचे सन्यासियों की दस णियाँ हैं। उनके नाम सरस्वती, भारती, पुरी, गिरि, तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, र्वत और सागर हैं। इन सबको दशनामी कहते हैं। ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से इनके चार वर्ग, ब्रह्मचारी, दण्डी, परिव्राजक और परमहंस हैं। इनमें जाति-पाँति का कोई भेद नहीं है। सभी लोग आध्यात्मिक विकास और साधना के सहारे इनमें शामिल हो सकते और ऊपर उठ सकते हैं। कहते हैं कि बनारस में एक बार किसी चाण्डाल के प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य ने कहा था कि मैं प्रत्येक व्यक्ति को जो संसार को अद्वैत दृष्टि से देखता है अपना गुरु मानता हूँ चाहे वह चाण्डाल हो या द्विज। अतः उन्होंने अपने संगठन में वर्ण और आश्रम और स्त्री-पुरुष के भेद को कोई स्थान नहीं दिया। साथ ही उन्होंने गर्हित धर्माचार का निषेध किया और शाक्तों, तांत्रिकों, भैरवों, कापालिकों और पाशुपतों की बहुत सी गन्दी क्रियाएँ बन्द कीं। कहा जाता है कि कांची के देवी के मन्दिर में उन्होंने नर बलि का विरोध किया और उसे रुकवाया।

शंकराचार्य में समन्वय की अद्‌भुत् प्रतिभा थी। उन्होंने मीमांसा का खण्डन किया, लेकिन वैदिक श्रुतियों में अगाध श्रद्धा प्रकट की; बौद्धों का विरोध किया, किन्तु बुद्ध को योगियों का चक्रवर्ती बताया और बौद्ध शासन से बहुत से विचार अपनाए जिनके कारण बहुत से लोग उन्हें 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहते हैं; ब्रह्म-ज्ञान का प्रचार किया पर सूर्य, शक्ति, विष्णु, शिव और गणेश की पूजा को अनुमति दी। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान और भक्ति के संयोग से भारतीय विचारधारा को नई चेतना दी। फलतः उनके प्रभाव से आजकल के हिन्दूधर्म को 'सेश्वर वेदान्त' कहा जा सकता है। इसके प्रत्येक पक्ष पर उनकी गहरी और अमिट छाप है। भारत में ही नहीं, भारत के बाहर कम्बुज देश (वर्तमान कम्बोदिया) में उनके मरने के कुछ ही वर्ष बाद उनके एक शिष्य शिवसोम ने उनके मत का प्रचार किया।

शंकराचार्य का दर्शन : ब्रह्म का स्वरूप

शंकराचार्य इस स्थापना को लेकर चले हैं कि विश्व की विविधता के पीछे एकता है। दुनिया की तरह-तरह की अलग-अलग चीजें एक ही सत्ता के रूप हैं। यह सत्ता अनन्त सत्य और ज्ञान है (तैत्तिरीय उपनिषद् २. १)। इसमें सत्ता, चैतन्य और आनन्द निहित है। यह देश, काल और अवस्था से परे है। इसे नामों, गुणों और विशेषणों की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। इसे 'ब्रह्म' कहते हैं। किन्तु इसमें एक शक्ति है जिससे इसके अनेक रूप दिखाई देते हैं। इस शक्ति का नाम 'प्रकृति' या माया' है। यह ब्रह्म में इस तरह है जैसे आग में जलाने की क्षमता। लेकिन इसे ब्रह्म का अंग नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा करने से ब्रह्म को अवयवी या सीमित या विनाशी मानना पड़ेगा जो उसके स्वरूप के विपरीत है। न ही इसे बिल्कुल ब्रह्म ही कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा कहने से ब्रह्म में परिवर्तन का होना साबित होगा और उसका नित्य और विकारहीन रूप खत्म हो जाएगा। वह तो केवल ब्रह्म की एक शक्ति है है जिससे वह एक होते हुए भी अलग-अलग रूपों में नज़र आता है। ये रूप ब्रह्म के असली रूप नहीं हैं लेकिन असली से लगते हैं। इन्हें 'विवर्त्त' कहते हैं।

माया का अर्थ

माया के बारे में शंकराचार्य का विचार जरा पेचीदा है। वे इसे वह कारण या शक्ति मानते हैं जिससे ब्रह्म के बहुत से अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं। यानी इससे बहुरूपी विश्व के बनने, बढ़ने और बिगड़ने की क्रिया चलती है। इसे अव्यक्त प्रकृति भी कहा जा सकता है जिससे व्यक्त संसार बनता है। दूसरे शब्दों में यह प्रकृति का पर्याय है और इसकी सब चीज़ों को ज़ाहिर करती है। यह सारी अदलती-बदलती दुनिया है, साथ ही ब्रह्म के साथ इसके संबंध को प्रकट

करती है । सारांश यह है कि यह ब्रह्म की वह ताकत है जिससे वह एक होता हुआ भी बहुत से रूपों में दिखाई देता है ।

ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता

माया के द्वारा ब्रह्म के बहुत से रूप दिखाई देते हैं । किन्तु ये रूप ब्रह्म की एकता को ढक सा लेते हैं । इसे 'आवरण' कहते हैं । ये उसे ढक ही नहीं लेते, उस पर अपना आरोप भी कर देते हैं । इसका नाम 'विक्षेप' है । इससे ऐसा लगने लगता है कि ये ही असली रूप में सत्य हैं । यह 'अध्यास' है । इस तरह माया ब्रह्म को बहुत से रूपों में प्रकट करती हैं । ब्रह्म अपने आप में एक और सब रूपों से परे है, लेकिन माया का आश्रय होने से उसे 'ईश्वर' कहा जाता है । माया के कारण ब्रह्म सूक्ष्म रूपों में दिखाई देता है । इन रूपों का आधार होने से ब्रह्म 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है । अपनी माया के कारण ब्रह्म स्थूल रूपों में भी दिखाई देता है । इन रूपों का आधार होने से ब्रह्म 'वैश्वानर' कहलाता है । सूक्ष्म रूपों का आविर्भाव इस क्रम से होता है— आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी । फिर इन पाँचों का पाँच तरह से मेल होता है जिससे स्थूल रूप बनते हैं । जब आधे में आकाश और आधे में बाकी चारों रूप होते हैं तो स्थूल आकाश बनता है । यानी स्थूल आकाश $= \frac{1}{2}$ सूक्ष्म आकाश + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म वायु + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म अग्नि + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म जल + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म पृथ्वी । जब आधे में वायु और आधे में बाकी चारों रूप होते हैं तो स्थूल वायु बनता है । यानी स्थूल वायु $= \frac{1}{2}$ सूक्ष्म वायु + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म आकाश + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म अग्नि + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म जल + $\frac{1}{8}$ सूक्ष्म पृथ्वी । इस प्रकार स्थूल अग्नि, स्थूल जल और स्थूल पृथ्वी क्रमशः आधे सूक्ष्म अग्नि, सूक्ष्म जल और सूक्ष्म पृथ्वी और आठ आठवाँ हिस्सा बाकी सब रूपों के मिलने से बनते हैं । इस क्रिया को 'पंचीकरण' कहते हैं ।

ब्रह्म परमार्थ सत्य और जगत् व्यावहारिक सत्य

प्रश्न यह उठता है कि क्या यह बाहरी जगत् झूठ है ? यानी इसका कोई अस्तित्व नहीं है और यह केवल हमारा ख्याल है ? शंकराचार्य ऐसा नहीं मानते । वे कहते है कि ब्रह्म और जगत् अभिन्न है ; ब्रह्म परमार्थ रूप से सत्य है और जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है । यह अवश्य है कि जगत् अपने आप में बगैर ब्रह्म के सत्य नहीं है लेकिन यह भी पक्की बात है कि जगत् ब्रह्म का ही रूप है जो सत्य है । यह जगत् हमारे विचार का रूप नहीं है जो आसमान में किले बनाता रहता है । इसे पेड़ की छाया तो कह सकते हैं लेकिन गधे का सींग नहीं । इसलिए ब्रह्म सूत्र (२. २. २८) स्पष्ट कहता है कि यह असत् नहीं है (नाभाव उपलब्धेः) । शंकराचार्य स्वयं लिखते हैं कि तरह-तरह के नामों और रूपों वाली चीजों की सत्ता है यद्यपि वे अपने आप

में पूरी न होने के कारण सत्य नहीं कहीं जा सकतीं क्योंकि सत्य से उस चीज़ का बोध होता है जो अपने आप में पूरी हो (सर्वं च नामरूपादि सर्वात्मनैव सत्यं स्वतस्तु अनृतमेव) (छान्दोग्य उपनिषद् ६. ३. २ पर भाष्य)। यदि भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में ब्रह्म का सत्ता बनी रहती है तो वैसे ही तीनों कालों में जगत् भी बना रहता है (यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं व्यभिचरति) (ब्रह्मसूत्र २. १. १६ पर भाष्य)। अतः स्पष्ट है कि शंकर जगत् को व्यावहारिक सत्य मानते हैं, केवल कल्पना की कलाबाजी नहीं समझते। उनके कहने का मतलब यह है कि यदि परमार्थ की दृष्टि से विचार किया जाए तो ब्रह्म ही सत्य है, उसके अलावा और कुछ है ही नहीं, यानी सब कुछ असत्य है (एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः सः परमार्थः) (ब्रह्म सूत्र २. १. ११ पर भाष्य), किन्तु यदि व्यवहार की दृष्टि से विचार किया जाए तो जगत् सत्य है। इसे एकदम झूठ कहना ठीक नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शंकर की दृष्टि में मिथ्यात्व का अर्थ नानात्व है, सत्ता-हीनता नहीं।

शंकराचार्य का मत है कि हरेक कार्य कारण का ही रूप है या उसकी अवस्था है (कारणस्य एवं संस्थानमात्रं कार्यम्) (ब्रह्मसूत्र २. २. १७ पर भाष्य)। इसलिए जीव और जगत् दोनों में ब्रह्म दिखाई देता है बल्कि दोनों उसके रूप हैं। दोनों में चैतन्य रहता है जीव में व्यक्त रूप से जगत् में अव्यक्त रूप से।

अनन्त और सीमित

जैसा ऊपर कहा जा चुका है ब्रह्म के दिखाई देने वाले बहुत से रूप देश, काल, गुण और आकार की सीमाओं (उपाधियों) में बंधे हुए हैं। आमतौर से इन्हें परछाईं की उपमा से समझाया जाता है। यानी जैसे जल में चांद की परछाईं दिखाई देती है इसी तरह दुनिया में जीव भी तरह-तरह के दीख पड़ते हैं। लेकिन ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि जैसे जल के हटने से उसमें दिखाई देने वाला चांद समाप्त हो जाता है इसी तरह अविद्या के हटने से दुनिया में दिखाई देने वाले जीव बिल्कुल नष्ट हो जायेंगे। इससे बचने के लिए अद्वैतवादी एक दूसरी उपमा का सहारा लेते हैं। वे कहते हैं कि जैसे सर्वव्यापी आकाश घड़े की सीमाओं में बंधकर अलग हो जाता है इसी तरह ब्रह्म माया के प्रभाव से तरह-तरह की उपाधियों (सीमाओं) में बंधकर अलग-अलग जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। जब घड़ा फूट जाता है तो उसके अन्दर का आकाश बाहर का व्यापक आकाश बन जाता है, इसी तरह उपाधियों के समाप्त होने पर उनमें दिखाई देने वाला ब्रह्म अपने असली रूप में पहुँच जाता है। मुक्ति का यही अर्थ है कि उपाधियों (सीमाओं) का विचार छोड़कर ब्रह्म को पहचानें। इस मत को 'अवच्छेदवाद' कहते हैं।

जीवन में ही मुक्ति

मुक्ति का अर्थ चूंकि जगत् के अदलते-बदलते रूपों के पीछे ब्रह्म की एकता को पहचानना है इसलिये वह विद्या का स्वरूप है या ज्ञान की अवस्था है और इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है (सिद्धं जीवतोऽपि विदुषः अशरीरत्वम्) (ब्रह्मसूत्र १. १. ४ पर भाष्य)। मुक्ति पाकर भी मनुष्य जीवित रहता हुआ अपने दैनिक कर्म करता है। शंकर लिखते हैं कि व्यास, वसिष्ठ, भृगु, नारद आदि ऋषि मुक्ति के बाद भी अपने-अपने काम करते रहे (व्यास-वसिष्ठ-भृगु-नारद-प्रभृतयः परमेश्वरेण तेषु तेषु अधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः कर्मसमाप्तिपर्यन्तं संसारेऽवतिष्ठन्ते) (ब्रह्मसूत्र ३. ३. ३२ पर भाष्य)। इसलिए मुक्ति का मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि जीवन समाप्त हो जाए बल्कि इसका आशय यह है कि हम सही ज्ञान से जगत् में इनके पीछे जो ब्रह्म मौजूद है उसे पहचानें। ऐसा करने से आसक्ति, तृष्णा और दुःख अपने आप नष्ट हो जाते हैं। बाद के वेदान्ती इसे 'जीवन मुक्ति' कहते हैं।

नैतिक आचरण पर बल

यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये अच्छे आचरण की भी जरूरत है। जिन कर्मों से इसकी प्राप्ति में मदद मिलती है वे पुण्य हैं और जिनसे इसमें बाधा पहुँचती है वे पाप हैं। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार पुण्यकर्म हैं और झूठ, हिंसा, जुल्म, ज़बरदस्ती पाप हैं। पाप वही करता है जो शरीर या इन्द्रिय को नित्य मानकर उसकी तुष्टि के लिए ही चेष्टा करता है। जो ऐसा नहीं मानता और इनके पीछे ब्रह्म को जानता है वह सारे संसार को समान समझता है, उसके अन्दर सर्वात्मभाव पैदा होता है, उसके मन में अपने पराए का भेद नहीं रहता, वह अपने को औरों में और औरों को अपने में अनुभव करता है, इसलिए उसके हर काम में सचाई, अहिंसा और परोपकार का भाव होता है, उससे पाप हो ही नहीं सकता। इस प्रकार वेदान्त एक बहुत ऊँचे नैतिक आचार की ओर ले जाता है जिसका आधार विद्या और ज्ञान है।

रामानुज का जीवन चरित्र और दर्शन

वेदान्त के विषय में एक अन्य दृष्टि रामानुज की मिलती है। उनका जन्म मद्रास के निकट श्रीपेरुम्बुदूर में १०१६ ई० में हुआ। उनके पिता केशव और माता कान्तिमती थीं। उन्होंने शांकरमत के अनुयायी यादवप्रकाश से दीक्षा ली किन्तु बाद में उनसे मतभेद होने पर श्रीरंगम् के नाथमुनि के शिष्य यामुनाचार्य का मत ग्रहण किया। यामुनाचार्य की मृत्यु के बाद वे श्रीरंगम् में उनके मठ के प्रधान आचार्य बने। उन्होंने कश्मीर तक सारे देश की यात्रा की। कहा जाता है कि चोल राजा कुलोतुंग

के तंग करने पर उन्हें १०६८ ई० में श्रीरंगम् छोड़कर मैसूर जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने होयसल नरेश विष्णुवर्धन को जैनधर्म से हटाकर अपने मत में शामिल किया और मेलकोटे में एक सुसंगठित मठ कायम किया। ११२२ ई० में वे फिर श्रीरंगम् चले गए और ११३७ ई० में अपनी मृत्यु तक वहीं रहे।

रामानुज ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'श्रीभाष्य' लिखा और 'वेदान्तदीप' नाम से इसका संक्षेप किया। उन्होंने 'गीताभाष्य', 'वेदान्त संग्रह' और 'वेदान्तसार' आदि ग्रन्थ भी लिखे। सुदर्शन सूरि ने 'वेदान्ततत्त्वसार' में और श्रीनिवास ने 'यतीन्द्रमतदीपिका' में उनके विचारों की विस्तार से व्याख्या की। उनके मत से ही मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन का श्रीगणेश होता है जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

ब्रह्म में चित् और अचित् की उपस्थिति

रामानुज उपनिषदों को अक्षरशः मानते हैं लेकिन शंकराचार्य द्वारा की गई उनकी व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि ब्रह्म में चित् और अचित् दोनों तत्त्व उपस्थित हैं। चित् आत्मा के रूप में विद्यमान है और अचित् से भौतिक जगत् का विकास होता है। प्रारम्भ में यह अचित् तत्त्व अविभक्त रूप में रहता है। फिर इसके तीन भाग हो जाते हैं। ये हैं तेज, जल और पृथ्वी। इनमें क्रमशः सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाए जाते हैं। धीरे-धीरे ये तीनों तत्त्व आपस में घुलते-मिलते हुए स्थूल वस्तुओं का रूप ले लेते हैं। इसे 'त्रिवृतकरण' कहते हैं। इससे भौतिक जगत् बनता है (ब्रह्मसूत्र १.४.८ पर श्रीभाष्य)। इस प्रकार सृष्टि उतनी ही वास्तविक है और जगत् उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म।

मायावाद का खण्डन

रामानुज ने शंकर के माया के सिद्धान्त पर कड़ा आघात किया है। वे शंकर के इस मत को नहीं मानते कि माया द्वारा ब्रह्म जगत् के अनेक रूपों में दिखाई देता है जो अपने आप में सत्य नहीं होते। उनका कहना है कि जीव और जगत् दोनों ब्रह्म के दो तत्त्वों चित् और अचित् से बनते हैं इसलिए पूरी तरह अपने आप में सत्य हैं। माया से उनका प्रयोजन सिर्फ ब्रह्म की अपने इन दो तत्त्वों द्वारा अद्भुत सृष्टि करने की शक्ति (विचित्रार्थ सर्गकरी) है (ब्रह्मसूत्र १. ४. ८–१०, १. १. ३, और २. १. १५ पर श्रीभाष्य)

ईश्वर, जीव और जगत्

रामानुज ब्रह्म को निर्गुण नहीं अपितु अनन्त गुणों का भण्डार मानते हैं। उनका

कहना है कि ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जो निर्गुण कहा गया है उसका अर्थ सिर्फ इतना है कि ब्रह्म राग, द्वेष आदि बुरे गुणों से रहित है (निर्गुण वादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धादुपपद्यन्ते) (ब्रह्मसूत्र १. १. १ पर श्रीभाष्य)। अच्छे गुण तो उसमें हैं ही। इन गुणों से युक्त ब्रह्म 'ईश्वर' कहलाता है। उसका चित् भाग जीव या आत्मा है लेकिन ईश्वर और जीव का रिश्ता पेचीदा है। इसे न भेद कहा जा सकता है, न अभेद और न भेदाभेद। भेद इसलिए नहीं कि ये एक ही पदार्थ ब्रह्म के दो विशिष्ट रूप हैं यानी एक हीं ब्रह्म इन दो प्रकारों से मौजूद है। अभेद इसलिए नहीं कि ये अलग-अलग हैं, इनका ज्ञान अलग-अलग होता है और सभी ज्ञान सत्य है, कोई तत्त्व मिथ्या नहीं है (ब्रह्मसूत्र १. २. १ और २. १. २२ पर श्रीभाष्य)। भेदाभेद इसलिए नहीं कि न तो जीव सम्पूर्ण ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है और न यह ब्रह्म का कल्पित उपाधियुक्त (सामित) रूप है जैसे घड़े के भीतर का आकाश सर्वव्यापी आकाश का कल्पित रूप होता है। वास्तव में उनका मत यह है कि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ईश्वर और जीव का संबंध भिन्न-भिन्न है। ईश्वर पूर्ण और अनन्त है और जीव अपूर्ण और सीमित है। इसलिये इन दोनों में भेद है। ईश्वर का चित् तत्त्व जीव के रूप में है इस विचार से दोनों में अभेद है। ईश्वर सम्पूर्ण है और जीव उसका एक अंश है इस दृष्टि से दोनों में भेदाभेद है। अतः ठीक ही माधवाचार्य र्वदर्शन संग्रह' में लिखते हैं कि रामानुज भेद, अभेद और भेदाभेद तीनों को नते हैं।

इस प्रकार रामानुज कहते हैं कि चित् और अचित् दोनों ब्रह्म में हमेशा मौजूद रहते हैं और उससे भिन्न होते हुए भी सदा उसके साथ अकाट्य रूप से जुड़े रहते हैं। उनका ब्रह्म से वही सम्बन्ध हैं जो अंश का पूर्ण से। वे हमेशा चित् और अचित् या जीव और जगत् हैं और ब्रह्म हमेशा ब्रह्म है। लेकिन ऐसा नहीं है कि वे बाद के हैं और ब्रह्म उनसे पहिला है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं जैसे पूर्ण के साथ अंश।

एकता और अनेकता दोनों सत्य हैं

रामानुज स्पष्ट कहते हैं कि एक ही चीज़ दो रूपों में मौजूद है (एकं वस्तु द्विरूपं प्रतीयते) यानी एक ही चीज़ के दो प्रकार हैं (प्रकारद्वय विशिष्टैकवस्तु-प्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम्) (ब्रह्मसूत्र १. १. १ पर श्री भाष्य)। ऐसा नहीं है कि एक ही चीज़ असल में दो बन गई हो और ऐसा भी नहीं है कि इसके दो रूप सिर्फ भ्रम हों। इसकी एकता भी सही है और इसके दोनों रूप भी ठीक हैं और उनसे बनने वाली तरह-तरह की वस्तुएँ भी सत्य हैं। पूर्ण एक भी है और अपने अंशों के रूप में अनेक भी है।

आत्मा और शरीर दोनों सत्य हैं

रामानुज मनुष्य के आत्मा और शरीर दोनों को सत्य मानते हैं क्योंकि ये ब्रह्म के चित् और अचित् रूपों से बने हैं। लेकिन ये दोनों सीमित हैं। आत्मा को सर्वव्यापी कहने का अर्थ केवल इतना है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अचित् या भौतिक तत्त्व में हर जगह प्रवेश कर सकता है (व्यापी अतिसूक्ष्मतया सर्वाचेतनान्तः प्रवेशस्वभावः) (ब्रह्मसूत्र १.१.१ पर श्रीभाष्य)। यह केवल वह पदार्थ है जो 'मैं' शब्द से सूचित होता है (स्वरूपेण एवं अहमर्थः आत्मा) (ब्रह्मसूत्र १.१.१ पर श्रीभाष्य)। बहुत सूक्ष्म होने पर भी यह सारे शरीर को चैतन्य-युक्त कर देता है।

चूंकि रामानुज ब्रह्म की एकता को विशुद्ध एकता नहीं बल्कि अनेकता से समन्वित एकता मानते हैं इसलिए उनके दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

कर्म ज्ञान और भक्ति का समन्वय

रामानुज कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को बराबर का महत्व देते हैं और मानते हैं कि इनके सामीप्य से अज्ञान नष्ट हो जाता है और जीव अपने चिद्रूप को पहचान लेता है जो ब्रह्म का एक अंश हैं। इसे मुक्ति कहते हैं।

विज्ञान भिक्षु द्वारा प्रतिपादित वेदान्त और सांख्य की समानता

बहुत से विचारकों ने वेदान्त को भारतीय चिन्तन की अन्य पद्धतियों से समन्वित करने की कोशिश की। इनमें विज्ञान भिक्षु (लगभग १६५० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका विचार है कि वेदान्त, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और पांचरात्र वेद और उपनिषदों से निकले हैं और इसलिए इनमें मूलभूत एकता है। जहाँ कहीं उनमें अंतर दिखाई पड़ता है उसे दूर किया जा सकता है। उन्होंने उपनिषदों, पुराणों और स्मृति से सामग्री लेकर ऐसा दर्शन बनाया जिससे इन सबको समन्वित किया जा सके।

विज्ञान भिक्षु ब्रह्म में प्रकृति और पुरुषों की स्थिति मानते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरुषों की स्वतन्त्र सत्ता मानता है लेकिन वे कहते हैं कि ये ब्रह्म में अधिष्ठित हैं, अर्थात् ब्रह्म इनका आधार या 'अधिष्ठान कारण' है। इसका मतलब यह है कि ब्रह्म का असली रूप जैसे का तैसा रहते हुए भी उसमें से विभेद उत्पन्न हो जाता है जैसे आग जैसी की तैसी जलती रहती है लेकिन उसमें से चिनगारियाँ निकलती रहती हैं या पिता जैसे का तैसा बना रहता है लेकिन उसके तरह-तरह के पुत्र पुत्रियाँ पैदा हो जाती हैं। इस तरह ब्रह्म विश्व को इसके सारे नानात्व और परिवर्तनों के साथ अपने अन्दर थामे हुए है।

विज्ञान भिक्षु 'प्रकृति' की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते बल्कि इसे ब्रह्म की एक शक्ति कहते हैं (विज्ञानामृतभाष्य, १.४.४)। इसे 'माया' भी कहते हैं। उनका विचार है कि इस प्रकृति से ही आनन्द आदि गुण पैदा होते हैं। काल भी इसी का भाग है। 'पुरुष' भी ब्रह्म में स्थित है। प्रकृति, पुरुष और काल से सृष्टिक्रम चलता है। इस प्रकार जगत् न तो भ्रम है और न ब्रह्म का परिणाम। इस दृष्टि को भेदाभेद कहते हैं।

'ईश्वर-गीता-भाष्य' में विज्ञान भिक्षु 'ब्रह्म' को 'सामान्य' बताते हैं। अधिक सामान्य कम सामान्य की तुलना में ब्रह्म है। जैसे-जैसे हम अधिक से अधिक सामान्य की ओर चलते जाते हैं। हमें ब्रह्म की सीढ़ियाँ मिलती जाती हैं। कारण चूंकि अपने कार्य की अपेक्षा अधिक सामान्य है इसलिए वह कार्य की अपेक्षा में ब्रह्म है। (यद्यस्य कारणं तत्तस्य ब्रह्म तदपेक्षया व्यापकत्वात्)। चूंकि ईश्वर में सब सामान्यों की समष्टि है इसलिए उसका नाम 'ब्रह्म-माया' है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार ईश्वर सांख्य का छब्बीसवाँ पदार्थ है जैसा कि महाभारत के शान्तिपर्व (३१८.७३) और मत्स्यपुराण (४.२८) में कहा गया है। अतः सांख्य को निरीश्वर कहना ठीक नहीं है।

सब दर्शनों का समन्वय

विज्ञानामृतभाष्य (१.१.५) में विज्ञान भिक्षु लिखते हैं कि भगवान् की तीन विभूति (आंशिक अभिव्यक्ति) ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। पांचरात्र वैष्णवों की भाषा में वासुदेव व्यूह से संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक व्यूहों की उत्पत्ति होती है। इन व्यूहों को पिछले अध्याय में समझाया जा चुका है। इन्हें महत्तत्त्व से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रज और तम से मिलाया जा सकता है। ये तीनों ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र या संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध या सत्त्व, रज और तम, ईश्वर या वासुदेव या महत् से निकले हैं और एक दूसरे के साथ वात, पित्त और कफ की तरह मिलकर काम करते हैं। ये अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे से अभिन्न हैं। अर्थात् विश्व में भेद होते हुए भी एकता है।

इस प्रकार विज्ञान भिक्षु ने छहों चिन्तन पद्धतियों के समाहार और समन्वय का प्रयत्न किया।

वेदान्त और विज्ञान

वेदान्त की सबसे बड़ी देन विश्व की एकता का भाव है। इसके अनुसार विश्व के विविध रूपों के पीछे एक ही तत्त्व है जिसमें सत्ता, चैतन्य और आनन्द हैं। दूसरे शब्दों में सत्ता, चैतन्य और आनन्द का अभेद है। यह तत्त्व सब प्रकार

की परिकल्पनाओं के परे है, क्योंकि यह असीम और अद्वितीय है। आधुनिक विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भौतिक जगत् के विविध रूपों में एक ही सत्ता विद्यमान है, जिसमें 'माइन्ड' और 'मैटर' की एकता है और जिसे विशुद्ध शक्ति या ऊर्जा कहा जा सकता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि आधुनिक विज्ञान जैविक (biological) और भौतिक (material) जगत् के भेद को कम करता जा रहा है। इन दोनों विभागों में एकता ढूंढने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। सूक्ष्म (microscopic) और सूक्ष्मतर (ultra microscopic) जीवाणुओं में क्रोमेटिन कणिकाएँ (chromatin granules) मिलती हैं। इनमें दंडाणु पदार्थ (bacillary bodies) होते हैं जिनमें गोल किनारे वाले बेलन नुमा पतली छड़ों की अधिकता होती है। इन सबके पीछे गॉल्जी तंत्र (Golgi Apparatus) सांश्लेषिक प्रक्रियाओं (synthetic processes) को चलाता रहता है जिनसे स्रावी कणिकाएँ (secretory granules) बनती हैं जो उत्सर्जन (excretion) का भी काम करती हैं। इनसे श्लेषमल (mucous) और सीरमी (serons) कणिकाएँ, पीतक (yolk), अग्रपिंडक (acrosomes), नीसल कणिकाएँ (Nissl's granules) आदि अस्थाई पदार्थ बनते हैं। यह क्रिया छोटे से छोटे जैविक अवयवी (biological organism) से लगाकर बड़े से बड़े शरीरी तक में होती है। इसका मूल रूप शक्ति है। इस दृष्टि से जीव-जगत् में मूलभूत समानता है।

इसी तरह भौतिक जगत् में भी मौलिक एकता है। प्रत्येक तत्त्व परमाणुओं से वना है। किन्तु परमाणु भौतिक इकाई नहीं है। इसमें एक जटिल तन्त्र है। इसके बीच में नाभि (nucleus) है और उसके चारों ओर विद्युत-तरंग-युक्त इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं। यह नाभि भी अनेक कणों (particles) से बनी है जिनमें न्यूट्रॉन और प्रोट्रॉन प्रमुख हैं। परमाणु के इन तत्वों में अनेकानेक सूक्ष्म ईथर-तरंगों के मिलन की कल्पना की जाती है जिनके पीछे केवल ऊर्जा (energy) है। सर अर्नेस्ट रदरफोर्ड ने सिद्ध किया है कि प्रत्येक परमाणु समस्त सौर मंडल का लघु संस्करण है। इससे सिद्ध होता है कि समस्त भौतिक जगत् ऊर्जा (energy) के विभिन्न रूपों से बना है। किन्तु, क्या इस मूलभूत ऊर्जा (energy) का स्वरूप निश्चित किया जा सकता है और क्या भौतिक जगत् के इस सूक्ष्म तत्व का दर्शन करना सम्भव है? एलबर्ट आइन्स-टाइन कहते हैं कि इसे नाम कुछ भी दिया जाय, यह एक गणितात्मक सम्बन्ध (mathematical relation) मात्र है। अतः विज्ञान प्रत्यक्ष जगत् के तत्वों के द्रव्य के बारे में कुछ नहीं बता सकता। केवल उनके गणितात्मक रूप की ओर संकेत कर सकता है। इसलिए जैसा एडिंगटन ने लिखा है, भौतिक विज्ञान का संबंध केवल छाया-जगत् से रह गया है, क्योंकि सारा जगत् छाया मात्र सिद्ध हो गया है। इसी प्रकार जेम्स जीन्स का विचार है कि विश्व एक यन्त्र न रहकर एक परिकल्पना

प्रतीत होता है, क्योंकि 'मैटर' और 'माइन्ड' का भेद मिट रहा है और सब 'मैटर' 'माइन्ड' का रूप लेता जा रहा है। गणित के शून्य और ज्यामिति के बिन्दु की तरह समस्त जगत् विचार और परिकल्पना है। वेदान्त ने बहुत पहले से सिद्ध कर दिया है कि सब पदार्थ ब्रह्म के रूप हैं जो सत्ता और चैतन्य की एकाग्रता की परिकल्पना है। इस प्रकार आजकल का विज्ञान वेदान्त की टीका मात्र मालूम होता है।

आठवां अध्याय

राजपूत काल, तन्त्र-दर्शन और सहज-साधना

सामन्ती युग का उदय

सातवीं सदी के बाद के आधे हिस्से से भारत के इतिहास ने नई करवट लेनी प्रारंभ की। गुप्त-साम्राज्य के अन्तिम दौर में प्रशासन की व्यवस्था सामन्ती रंग पकड़ती जा रही थी। 'सामन्त' शब्द पहिले पड़ौसी के लिए प्रयुक्त होता था, लेकिन पाँचवी सदी में अधीन राजा के लिए प्रयुक्त होने लगा। लड़ाइयों में हराए हुए या कूटनीति से अपनी तरफ मिलाए हुए ये राजा अपने सम्राट को कर देते थे, उसकी आज्ञा मानते थे और समय-समय पर उसके दरबार में उपस्थिति देते थे। इनमें से कुछ सम्राट से बहन-बेटी का रिश्ता भी करते थे और अपनी रियासतों में राज्य करने के लिए फरमान प्राप्त करते थे। लेकिन साम्राज्य के प्रशासन में इन का कोई दख़ल नहीं था। वह पूरी तरह से वैतनिक कर्मचारियों के हाथों में था जिन्हें बहुत देखभाल कर योग्यता के आधार पर भर्ती किया जाता था। छठी सदी के प्रारंभ में यह नई बात पैदा हुई कि इन अधीन राजाओं को साम्राज्य के प्रशासन के अधिकार सौंपे जाने लगे। इस काम के एवज़ उन्हें कोई वेतन नहीं मिलता था बल्कि या तो उन की रियासतों पर से कर माफ कर दिया जाता था या उन्हें नई रियासतें और जागीरें दे दी जाती थीं जिनकी मालगुज़ारी से वे अपने खर्चे चलाते थे। धीरे-धीरे पूरा सैनिक और राजस्व का प्रशासन उनके हाथों में आ गया और वे अपनी तरफ से अपने मातहत कायम करने लगे और जमीन-जायदाद के पट्टे जारी करने लगे। गुप्त काल में उद्योग और व्यापार में जो उन्नति का ज्वार आया था उससे नगरों में एक बड़ा समृद्ध धनी वर्ग उभर आया था। धीरे-धीरे इन लोगों ने भी व्यापार क़ी जोखिम से बचने के लिए जमीदारियों में अपनी पूँजी लगाई। छठी सदी में हूणों आदि के हमले से जो खलबली मची उसमें ऐसा करना और भी ज़रूरी हो गया। फिर जमींदारों और रियासतें लोगों की शान और इज्ज़त और बढ़ी-चढ़ी दरबारी हैसियत को देखते हुए पूँजीपतियों ने जमींदारी रियासतें खरीदना मुनासिब समझा। इन सब कारणों से छठी सदी में जमींदारों और जागीरदारों का ज़ोर हो गया जैसा कि अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में हुआ जिसका वर्णन आगे के अध्यायों में किया जाएगा।

रियासतदारों, जागीरदारों और जमींदारों की छः श्रेणियां थीं जिनके नाम हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०) के राजकवि बाणभट्ट ने इस तरह गिनाए हैं—प्रधान

सामन्त, आप्तसामन्त, महासामन्त, सामन्त, शत्रुमहासामन्त और प्रतिसामन्त। ये अपनी-अपनी श्रेणी के अनुसार अलग-अलग प्रकार के मुकुट और कलगियाँ लगाते थे और दरबार में अलग-अलग पंक्तियों में बैठते या अलग-अलग कामों में लगते थे। इनकी अपनी-अपनी सेनाएँ थीं जिन्हें लेकर ये सम्राट की आज्ञा पर उसके शिविर में शामिल होते थे। युद्धभूमि में इनकी सेनाएँ इनके कमान में लड़ती थीं यद्यपि सबका सेनापतित्व सम्राट के हाथ में होता था। राजस्व का प्रबन्ध भी इनके हाथ में था। ये किसानों से लगान वसूल करते और उनकी सुरक्षा की देखभाल करते थे। अपनी-अपनी जागीरों और रियासतों के आन्तरिक प्रबन्ध में उन्हें पूरी आजादी थी। केवल सम्राट को भेंट देना या उसके बुलाने पर फौज लेकर युद्ध के लिए कूच करना उनका कर्तव्य था। इस तरह देश का प्रशासन सामन्ती व्यवस्था में बदल गया था। इससे राजनीतिक एकता को बड़ा नुक्सान पहुँचा क्योंकि सामन्तों के गुट मौका पाकर जिस राजा से टूट जाते उसका पतन हो जाता और जिसके साथ जा मिलते वह ऊपर उठ जाता। इस हलचल में वे अपनी ताक़त भी बढ़ाते और अपनी हैसियत मजबूत करते। इस तरह भारतीय राज्य व्यवस्था सामन्तों के जोड़-तोड़ का अखाड़ा बन गई और उसका स्थायित्व नष्ट हो गया। यही कारण है कि हर्ष के बाद कोई भी राजवंश भारत में अखण्ड साम्राज्य स्थापित नहीं कर सका और लड़ाई-झगड़े बराबर चलते रहे। ऐसी दशा में बहुत से बाहरी लोगों को यहाँ आने और अपना राज्य स्थापित करने का मौका मिला, साथ ही बहुत से गुमनाम लोग ऊपर उठ आए और उन्होंने अपने-अपने छोटे-मोटे राज्य बनाने प्रारंभ कर दिए। इन प्रवृत्तियों से उन लोगों का प्रभुत्व हो गया जिन्हें 'राजपूत' कहते हैं।

राजपूतों का उत्थान

राजपूतों में देशी और विदेशी लोगों का सम्मिश्रण था। पाँचवीं और छठी सदियों में मध्य-एशिया से बहुत सी जातियाँ भारत में आईं। इनमें हूण, तुर्क, सुग़्दी, ईरानी और अफगान शामिल थे। हूणों ने ५१० से लगभग ५३० ई० तक तोरमाण और मिहिरकुल के नेतृत्व में पूरे उत्तरी भारत पर राज्य किया। किन्तु मालवा के औलिकर राजाओं ने उन्हें खदेड़ दिया। फिर भी वे उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर जमे रहे और उन्होंने ग़जनी के इलाके में अपना अड्डा बनाया जिसे उनके वंश के नाम पर 'जाबुल' कहते हैं। वहाँ से वे बराबर थानेसर के पुष्पभूति और कन्नौज के मौखरि राजाओं को तंग करते रहे। इन दोनों ने मिलकर उन्हें करारी मार दी और हर्ष ने अफगानिस्तान में बामयान तक अपना सिक्का जमाया। उधर आठवीं सदी में मुस्लिम अरबों ने उन पर कड़ा दवाव डाल दिया और अन्त में ८७० ई० में याकुब-बिन-लैस ने उनके राज्य को पूरी तरह जीत लिया। वहाँ से

निकल कर वे पूरे उत्तरी भारत में फैल गए। बाघ के पास हुणगाँव और हूण चौतरों में और वर्तमान जबलपुर के निकट उनकी बस्तियाँ थीं। वहाँ से उन्होंने आसपास के क्षेत्रों की राजनीति में काफी हिस्सा लिया और करीब-करीब सभी बड़े राजवंशों से संबंध स्थापित किए। अब भी पंजाब में हूण मिलते हैं लेकिन वे भारतीय जनता के अभिन्न अंग हो गए हैं।

गूर्जरों का आगमन

हूणों के आगे पीछे एक और जाति के लोग भारत में आये। ये लोग मध्य एशिया में इली नदी की घाटी में रहते थे। चीनी लेखकों ने इनका नाम 'वू-सुन' लिखा है। इस शब्द का अर्थ है 'कव्वे के पोते'। मध्य-एशिया के बहुत से लोगों में ऐसी किंवदन्ती है कि किसी समय जब उनके पुरखे पर मुसीबत आई तो किसी कव्वे ने उसे खाने के लिए मांस लाकर दिया और तब से वे कव्वे के पोते कहलाने लगे। 'वू-सुन' नाम के पीछे भी ऐसी ही कोई मान्यता दिखाई देती है। चौथी सदी में वू-सुन शब्द का उच्चारण 'गूसुर' जैसा था। इसी से 'घूसर', 'घीस्र', 'गज़र', 'खज़र' आदि नाम बने हैं। इन नामों वाली जाति ने छठी सदी में योरोप के सीमावर्ती क्षेत्रों में बड़ी चहल-पहल रक्खी। इनका एक भाग अफगानिस्तान में फैल गया। वहाँ श्वेत हूणों की राजधानी बादेघीज़ के निकट गुर्जिस्तान, हज़ारा के पश्चिम में अर्घन्दाब के पार उजरिस्तान और गज़नी के पास गुजरिस्तान नाम के क्षेत्र अभी तक उनके आने की याद दिलाते हैं। वहाँ से वे पंजाब में आए, जहाँ गुजरात, गुजराँवाला और गूजरखाँ उनकी बस्तियों के अवशेष हैं। फिर वे दक्षिण की ओर घूमकर राजस्थान पहुँचे जिसका बिचला हिस्सा गुर्जरत्रा कहलाया। वहाँ से और नीचे चलते हुए उन्होंने लाट को गुर्जरदेश या गुजरात का नाम दिया। इन गूर्जरों (वर्तमान गूजरों) ने इस इलाके में अपने राजवंश कायम किए। बहुत से गूर्जर पूर्वी भारत तक फैल गए।

गूर्जर और प्रतिहार

बहुत से विद्वान् मानते हैं कि कन्नौज के प्रसिद्ध प्रतिहार राजा गूर्जर थे। लेकिन यह महत्त्व की बात है कि उनके अभिलेखों में कहीं उनके गूर्जर होने का उल्लेख नहीं मिलता। न मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति में, न बडक के जोधपुर के अभिलेख में और न महेन्द्रपाल के राजकवि राजशेखर की कृतियों में उन्हें गूर्जर कहा गया है। इन लेखों में उनकी उत्पत्ति राम के छोटे भाई लक्ष्मण से बताई जाती है जिसने मेघनाद के साथ युद्ध के समय द्वारपाल या प्रतिहार का काम किया था, जबकि गूर्जर राजाओं के लेखों में उनकी उत्पत्ति के बारे में ऐसी बात नहीं कही गई हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रतिहार गूर्जरों से भिन्न थे लेकिन चूंकि उनके कुछ राज-

वंशों का संबंध मध्य राजस्थान से था जहाँ गूर्जर बहुत अधिक संख्या में बस गए थे और जो उनकी वजह से गूर्जरत्रा कहलाने लगा था इसलिए उन्हें भी उनके प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रकूट राजाओं के लेखों में और उनकी देखादेखी मथनदेव के ९५९ ई० के राजोर अभिलेख में गूर्जर कह दिया गया है। वास्तव में कुछ समय बाद गूर्जर और स्थानीय लोग—ब्राह्मण और क्षत्रिय आपस में इतने घुलमिल गए थे कि उनमें अन्तर करना मुश्किल हो गया था।

अफगानों की बस्ती

गुर्जरों के साथ ही साथ कुछ अफगान भी राजस्थान में आ बसे थे। अफगानिस्तान का पुराना नाम रोहित या लोहित था और अफगानों को रोह कहते थे जिससे विगड़कर रोहिल्ला बन गया था। इनकी बस्ती के कारण उत्तर प्रदेश का गंगा पार का इलाका रोहिलखण्ड कहलाता है। लेकिन पुराने जमाने में ये राजपूताने में आ बसे थे जैसा कि बडक के जोधपुर अभिलेख में 'रोहिल्लाद्धि' के उल्लेख से प्रकार है। ये भी स्थानीय जनता में समा गए थे।

तुर्कों का जोर

छठी सदी में मध्य-एशिया में एक और जाति उभरी जिसे तुर्क कहते हैं। यह शब्द पहिले बहुवचन में त्युर्क्युत के रूप में प्रयुक्त होता था और इसका अर्थ 'वीर' था। चीनी में इन्हें 'तू-ख्यू' और भारत में 'तुरुष्क' कहते थे। उनके एक नेता बूमिन ने उनका संगठन किया। उनके मरने पर उसका राज्य दो हिस्सों में बँट गया। पूर्वी भाग पर उसके बड़े लड़के मूहान का राज्य हुआ और पश्चिमी भाग पर छोटे लड़के इस्तेभी (५५२--५७५ ई०) का। उसने अफगानिस्तान को जीत कर सिन्ध नदी तक धावा किया। उसके एक पदक पर एक ओर तुखारी लिपि में और दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित है। उसके उत्तराधिकारी, जो शायद तरदू था, के सिक्के अफगानिस्तान और सिन्ध में काफी मिलते हैं। इन पर तुखारी में 'श्री शाहो' और ब्राह्मी में 'श्री-हितिविर-एरान-च-परमेश्वर-श्री-शाही-तिगिन-देवज' लिखा है। इन तुर्कों से काबुल के तुर्की शाही राजवंश का आविर्भाव हुआ। ये लोग 'तेगिन' या 'तिकिन' की उपाधि धारण करते थे और कनिष्क से अपना संबंध जोड़ते थे। ये पक्के बौद्ध हो गए थे। इन्होंने उन सब मठों, मन्दिरों, आरामों और स्तूपों की मरम्मत कराई जिन्हें हूणों की मारधाड़ में क्षति पहुँची थी। इन्होंने हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कश्मीर की राजनीति में काफी हिस्सा लिया और सिन्धु को पार कर पंजाब में दूर तक अपने पैर फैलाये। नवीं सदी में इनके राजा लघुतोरमाण (लघतूरमान) की क्रूरता से लोग उसके विरुद्ध हो गए और कन्नौज के प्रतिहारों को

उसे हटाकर उसकी जगह लल्लियशाही का राज्य कायम कराने को अवसर मिल गया। तब लल्लिय से 'हिन्दु शाही' वंश का राज्य प्रारंभ होता है।

कलचुरी लोगों की उत्पत्ति

इन तुर्कों के कुछ क़बीलों का पश्चिमी भारत तक में पहुँचने का संकेत मिलता है। इनमें राजवंश के लोगों को 'तेगिन' या 'तिकिन' और उससे नीचे राज्य के उच्च अधिकारियों के 'कुलुच्यूर' कहते थे। लगता है इन कुलुच्यूरों के कुछ कुल या क़बीले भारत में अन्दर धंस आए और 'कलचुरी' या 'खलचुरी' कहलाने लगे। उनमें कहावत थी कि उनका पुरखा 'अस्सेन' या 'अर्जुन' था। तारिम घाटी की बहुत सी रियासतों के राजवंश अपना नाता अर्जुन से जोड़ते और अपने नामों के साथ अर्जुन शब्द लगाते थे। भारत में भी ऐसे लोग थे जो अपने को प्राचीन हैहय विजेता अर्जुन कार्त्तवीय के वंशज समझते थे। ऐसा मालूम होता है कि इनका 'कलचुरी' तुर्कों से मेल हो गया। फलतः ये मिलकर एक हो गए। उन्होंने कलचुरी नाम भी जारी रक्खा और हैहय वंश के अर्जुन कार्त्तवीय से भी अपनी वंश-परम्परा चलाई। ये हैहय-कलचुरी नवीं दसवीं सदियों में काफी फले-फूले और इन्होंने बड़े मज़बूत राज्य स्थापित किए। इनके राजा गांगेयदेव विक्रमादित्य (१०३०--१०४०) और लक्ष्मीकर्ण (१०४१--१०७०) बड़े प्रतापी सम्राट् हुए।

सुग्दी लोगों का फैलाव

हूणों, गुर्जरों और तुर्कों के अलावा ईरानी भी भारत में आए। ईरानियों की एक शाखा वंक्षु पार जरफ़शान नदी की निचली घाटी में रहती थी। इस इलाके को सुग्द कहते हैं और इसका प्रमुख स्थान समरकन्द है। इसलिए यहाँ के ईरानी सुग्दी कहलाते हैं। प्राचीन काल में इन्होंने व्यापार में बड़ी उन्नति की। चीन और पश्चिमी जगत् का व्यापार बहुत कुछ इनके हाथ में था। इसलिए इनकी भाषा मध्य-एशिया की सार्वजनिक भाषा बन गई थी। इन्हें चीनी में 'सू-ली' और भारत में 'चूलिक' या 'शूलिक' कहते थे। मार्कण्डेयपुराण (५७.४०) में इनकी गिनती लम्पाक, किरात, कश्मीर, पंचनद (पंजाब) और तुर्किस्तान (तुरुष्क) के लोगों के साथ की गई है। वायुपुराण (९९.२६८) में लिखा है कि इन्होंने कलियुग में भारत में भी अपना राज्य स्थापित किया। भारत में बसे हुए एक 'चूलिक' या 'सुग्दी' परिवार के एक बौद्ध भिक्षु सेङ-हुई ने चीन पहुँच कर नार्नकिंग में अपना मठ स्थापित किया। पंजाब में आज तक शाहपुर जिले के सुल्की राजपूत, मुल्तान के इलाके के सोल्गी और सोल्का जाट और अमृतसर, लुधियाना और मच्छीवाड़ा के सूद और सुदगी खत्री इन सुग्दी-चूलिक लोगों के वंशज मालूम होते हैं। ऐसा लगता है कि ये चूलिक पूर्व और

दक्षिण की ओर भी चले गए और चालुक्य या चौलुक्य कहलाए।

सुग़दी और चालुक्य

चालुक्य या चौलुक्य शब्द का यह अर्थ लगाया जाता है कि इस वंश का प्रवर्तक ब्रह्मा की चुल्लू (चुलुक) के जल से पैदा हुआ। कथा है कि एक बार दैत्यों की शक्ति बढ़ जाने पर इन्द्र ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि वे उनके विनाश के लिए किसी वीर को पैदा करें। उस समय ब्रह्मा सन्ध्या के लिए अपने चुल्लू में जल लिए हुए थे। उन्होंने तभी उसी से दैत्यों के विनाश के लिए एक वीर उत्पन्न किया (बिल्हण कृत 'विक्रमाङ्कदेवचरित', १. ५५)। अतः वह चालुक्य कहलाया और उसके वंश का नाम भी चालुक्य पड़ा। इस वंश में हारीत और मानव्य नाम के राजा हुए। कालान्तर में उन्होंने अयोध्या में अपनी राजधानी स्थापित की। बाद में वे अयोध्या छोड़ कर दक्षिण भारत में चले गए। वहाँ उन्होंने शक्तिशाली राज्य स्थापित किए। 'अय्यणवंशचरित काव्य' में इससे अलग वृत्तान्त मिलता है। इसमें लिखा है कि ब्रह्मा के पुत्र अत्रि और उनके पुत्र सोम से यह वंश चला। इसके साठवें राजा विजयादित्य ने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया (१. ६३)। किन्तु वह अपने भाई से लड़कर दक्षिण की ओर नर्मदा के किनारे पर चौवलि नाम के गाँव में चला गया। विजयादित्य पल्लव वंश के राजा के साथ लड़ता हुआ मारा गया, पर उसके पुत्र विष्णुवर्धन ने बड़ी उन्नति की और पल्लव राजा को अपनी लड़की उससे ब्याहनी पड़ी (२. ४१)। स्पष्ट है कि इन दोनों वृत्तान्तों में मौलिक अन्तर है जिससे प्रतीत होता है कि ये दोनों आख्यानिक हैं। वास्तव में चालुक्य जैसे नए शब्द को सिद्ध करने के लिए इन आख्यानों को गढ़ा गया। यह अवश्य है कि चालुक्य स्थानीय और विदेशी लोगों के सम्मिश्रण से बने, लेकिन इनका नाम भारतीय नहीं है और गुप्तकाल या उससे पहिले के लेखों में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

पारसी लोगों का प्रवेश

आठवीं सदी में ईरान के पारसी भी भारत आए। ६५१ ई० में अरब के मुसलमानों ने अन्तिम सासानी सम्राट यज़्दगिर्द को हराकर ईरान पर अधिकार कर लिया। उनकी मार से बचने के लिए जरथुश्त्री धर्म को मानने वाले ईरानियों ने अपना घरबार छोड़ कर कोहिस्तान की पहाड़ियों में शरण ली और वहाँ लगभग सौ वर्ष बिताए। ७५१ ई० में वे हुरमुज़ में आकर रहने लगे लेकिन यहाँ वे केवल पन्द्रह वर्ष ही रह पाए क्योंकि मुसलमानों ने उन्हें बहुत तंग करना शुरू कर दिया। अन्त में उन्हें अपना देश छोड़कर भारत जाना पड़ा। वे ७६६ ई० में काठियावाड़ के किनारे के पास डिऊ में उतरे और वहाँ पन्द्रह वर्ष रहकर गुजरात चले आए और

संजान में बस गए। वहाँ के राजा जै राना या जादी राना ने उन्हें बसने और स्वतंत्रता से अपने धर्म को मानने की आज्ञा दी। कुछ समय बाद ७६० ई० में उन्हें अपना अग्नि-गृह (आतश-बहराम) बनाने की भी अनुमति मिल गई। तीन सौ वर्ष बाद १०६० के क़रीब उन्होंने इधर-उधर फैलना प्रारम्भ किया और वे वांकानेर, भड़ौच, अंकलेश्वर, खम्बात और नौसारी में बसने लगे। चार सौ साल बाद मुसलमानों ने इस क्षेत्र पर हमले किए और अलफ खाँ ने संजान पर अधिकार कर लिया। पारसियों ने हिन्दुओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर संजान की रक्षा करने की कोशिश की लेकिन अन्त में हार कर उन्हें पवित्र अग्नि लेकर बारहूत के पहाड़ों में जाना पड़ा। वहाँ से उनके नेता चानगाह असा उस पवित्र अग्नि को नौसारी ले गए और उसकी स्थापना के लिए उन्होंने वहाँ १५१६ ई० में अग्नि-गृह बनवाया। नौसारी का पारसी समाज बड़ा समृद्ध था जैसा कि अबुलफज़्ल की आईन-ए-अकबरी में दिए गए तथ्यों से प्रतीत होता है। अकबर के दरबार में कई पारसी पण्डों (दस्तूर) का यथेष्ट मान हुआ। अठारहवीं सदी में सूरत के पारसी समाज ने भी काफी उन्नति की। बम्बई की उन्नति का श्रेय तो बहुत कुछ इन्हीं लोगों को है। उन्होंने खासतौर से उद्योग-धन्धों और व्यापार-वाणिज्य में बहुत दिलचस्पी ली और बर्मा और चीन तक अपनी शाखाएँ खोलीं। भारत के राष्ट्रीय उद्बोधन और औद्योगिक विकास में उनका महत्वपूर्ण योग रहा जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। पारसी अपने धर्म में दृढ़ हैं लेकिन भाषा, संस्कृति और विचारों में पूरे भारतीय हैं। वे पूरी तरह भारत के हैं और भारत उनका है।

पारसी धर्म

यहाँ पारसियों के धर्म के विषय में भी कुछ कहना अनुचित न होगा। यह धर्म पुराने वैदिक धर्म का चचेरा भाई है। इसमें जरथुश्त्र ने छठी सदी ई० पू० में सुधार किया। उन्होंने अहुर्मज़्दा की अद्वितीय सत्ता का प्रतिपादन किया। उनके कथनानुसार अहुर्मज़्दा ही सारे विश्व का स्रष्टा है। सब कुछ उसी से आरम्भ होता है और उसी में लीन होता है। वह अपने आपको छः रूपों में प्रकट करता है जिन्हें 'अमेशा-स्पेन्ता' कहते हैं। ये हैं (१) अश-बहिश्त (विश्व का नियमबद्ध विधान), (२) वोहु-मनो (पवित्र मन और शुद्ध विचार), (३) क्षथ्र-वर्य (क्रिया और सृजन की शक्ति), (४) स्पेन्ता-आरमैती (पवित्रता और श्रद्धा जिनका भौतिक रूप पृथ्वी है), (५) हौरवतात (समग्रता और सम्पूर्णता जिनका भौतिक रूप जल है), और (६) अमेरेतात (अमरता जो वनस्पति जगत् में विद्यमान है)। इनके अतिरिक्त एक दैवी तत्त्व 'यजत-स्रओशा' है जिसमें भक्ति, सदाचार और नैतिक जीवन का आदर्श निहित है। अहुर्मज़्दा दो विरोधी तत्त्वों की सृष्टि करता है, स्पेन्तामैन्यू (पुण्यात्मा) और अंग्रमैन्यू (पापात्मा)। इन दोनों के संघर्ष से प्रकृति का विकास और मानव की उन्नति होती है। अंत में पाप की पराजय निश्चित है। किन्तु इससे बचने के लिए त्रिविध मार्ग पर चलना ज़रूरी है। यह है हुमत (अच्छे

विचार), हूख्त (अच्छे वचन) और हुवर्श्त (अच्छे कर्म) का मार्ग । इसका अर्थ है कि दूसरों के लिए वह न करो जो तुम चाहते हो कि तुम्हारे लिए न किया जाए । 'मनुष्य का कर्त्तव्य है कि शत्रु को मित्र बनाए, दुष्ट को सदाचार में लगाए और मूर्ख को ज्ञान की शिक्षा दे', 'सदाचार सब से बड़ा गुण है और दुःखी दरिद्र लोगों की सेवा करना इसका सब से श्रेष्ठ रूप है' । अग्नि अहुर्मज़्दा, पुण्य और पवित्रता का प्रतीक है । अतः इसे हमेशा जलाए रखना और इसकी पूजा करना श्रेयस्कर है ।

साधारण कोटि के देशी लोगों की उन्नति

इन विदेशी लोगों के अलावा भारत में अनेक साधारण कोटि के लोगों ने उन्नति की और नए राजवंश कायम किए । चालुक्यों के बाद दक्षिण में स्थानीय राष्ट्रकूट उभरे । इनकी एक शाखा परमार के नाम से मालवा में बढ़ी । इनकी एक और शाखा कन्नौज और बदायूँ में बसी । वहाँ से वे लोग राजस्थान गए और राठौर कहलाए । इसी तरह चन्देल शुरू में मामूली लोग थे । एक किंवदन्ती के अनुसार उनके पुरखे चन्द्रवर्मा का जन्म चन्द्रमा और एक ब्राह्मण विधवा हेमवती के संयोग से हुआ, लेकिन खजुराहों के एक लेख से पता चलता है कि ब्रह्मा के पुत्र अत्रि से चन्द्रात्रेय पैदा हुआ और उसने यह वंश चलाया और इसका पहिला राजा नन्नुक हुआ । गाहडवाल भी एक गुमनाम वंश था जिसका सितारा यशोविग्रह के समय चमका । कुछ परम्पराएँ इन्हें राजा नल के साथ जोड़ती हैं और कुछ राजा ययाति से लेकिन इनके अपने लेखों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती और न गाहडवाल नाम का प्रयोग मिलता है । राजस्थान का प्रसिद्ध गुहिल वंश आनन्दपुर (वाडनगर) के एक ब्राह्मण बप्प से शुरू हुआ लेकिन ये लोग अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहने लगे । कछवाहे राजपूतों का वंश ढोला राय से आरम्भ हुआ है जिसने ९६७ ई० में धूंधर में अपना राज्य क़ायम किया । ये लोग अपने को सूर्यवंशी राम के पुत्र कुश के साथ जोड़ने लगे । इसी तरह और भी बहुत से राजपरिवार उस जमाने में आगे आए । इन सब के बारे में विशेष बात यह है कि न तो पुराने साहित्य में उनका उल्लेख मिलता है और न पुराने प्रतिष्ठित राजवंशों से उनका संबंध प्रतीत होता है लेकिन वे समय पाकर साधारण स्थिति से ऊपर उठे और बाद में सम्मान वृद्धि के लिए उन्होंने अपने राज्य को आख्यानिक वीरों ऋषियों और देवताओं से संबंधित करना प्रारम्भ किया ।

राजपूतों की व्यवस्था और संस्कृति

उपर्युक्त चर्चा से पता चलता है कि छठी से आठवीं सदी के बीच में बहुत से विदेशी लोग बाहर से आकर भारत के लोगों में घी-खिचड़ी हो गए और बहुत से देशी लोग साधारण और अज्ञात स्थिति से उठकर नए राजवंशों के प्रवर्तक बन गए । ये सब राजपूत कहलाए । इनके ज़माने में सामन्ती व्यवस्था पूरे वेग के साथ चली ।

पन्द्रहवीं सदी के एक ग्रन्थ 'लेख पद्धति' से पता चलता है कि जमीन्दारों की राजा, महामान्य, राणक, राजपुत्र, वणिक आदि कई श्रेणियाँ थीं। ये एक दूसरे के ऊपर थे और इनके नाम ज़मीनों के कई पट्टे थे जिनके एवज़ में ये लगान वसूल करते और फौज रखते थे। इनके अलावा पण्डित, पुरोहित, साधु, सन्त, ज्योतिषी आदि भी ज़मीनों के पट्टेदार थे और मठों, मन्दिरों, गुरुकुलों के नाम बड़ी-बड़ी जायदादें थीं। इससे लोगों में स्थानीयता का भाव और प्रशासन में विघटन शुरू हो गया था। अपनी-अपनी ज़मीनों के लिए कुल-कबीले हर अपराध को वैध समझते थे। पिता पुत्र को मार देता तो पुत्र पिता का खून करता, स्त्रियाँ अपने नातियों को ज़हर देतीं तो राजा मंत्रियों की हत्या करवाते और मंत्री उनके खिलाफ़ जाल रचते। ज़रा-ज़रा सी बातों पर लोग भड़क जाते, सब जगह युद्ध का नशा छा जाता और गढ़-गढ़इयों से चमकते सवारों की पंक्तियाँ बिजली की तरह कौंध कर शत्रुओं से भिड़ जातीं। रिश्ता-नाता, शादी-ब्याह, प्रेम-विरह, तीज-त्यौहार, खेल-तमाशा कुछ भी बिना रक्तपात के न होता। या तो ये लोग हरमों के मजे लूटते, महफिलों की रंगरलियों में मस्त रहते और ताकत के नशे में चूर रहते या मरने-मारने में अभ्यस्त थे, कुश्तोखून पर उतारू रहते, ज़िद और अड़ के लिए जान की बाजी लगाना हंसी-खेल समझते। इनमें शान-शौकत, रोब-दबदबा, तड़क-भड़क, तेजी-फुरती पूरी थी लेकिन साथ ही स्वार्थ, संकीर्णता, छीना-झपटी और बदले की भावना भी हद से ज़्यादा थी। अगर एक तरफ वे ऐश-ओ-आराम की रंगीन ज़िन्दगी बिताते तो दूसरी तरफ एक दूसरे के ख़िलाफ गन्दे जाल रचते रहते। इसमें शक नहीं कि वे हारे हुए शत्रु के प्रति उदार थे, शरण में आए हुओं की जी-जान से रक्षा करते थे, ब्राह्मणों और स्त्रियों का आदर करते थे, लेकिन यह भी सच है कि वे दूर की बात नहीं सोच सकते थे, सही बात कहने वालों के गले पड़ जाते थे और किसी संगठन या व्यवस्था को बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रख सकते थे। इसलिए इस ज़माने में राजनीतिक स्थिरता का प्रश्न ही नहीं था।

राजपूत काल की धार्मिक प्रवृत्तियाँ

ऊपर जो राजपूतों के बारे में कुछ विस्तार से कहना पड़ा है इसकी ज़रूरत इसलिए पड़ी है कि इससे उस समय के धर्म और संस्कृति को समझने में मदद मिलती है। इससे चार बातें साफ हो जाती हैं, (१) राजपूतों में या तो बाहर के लोग थे या देश ही के साधारण स्थिति के आदमी। इन्हें जल्दी से ऊपर उठकर अपना सांस्कृतिक स्तर बढ़ाना था। इसके लिए इन्हें प्राचीन शानदार वंशावलियों की ज़रूरत थी। अतः इन्होंने ब्राह्मणों, विद्वानों, लेखकों और कवियों से मदद ली और बदले में उनके वर्गगत अधिकारों को दृढ़ किया। वे तथाकथित वर्णाश्रम धर्म के पक्के संरक्षक बने। इससे समाज के ढाँचे में सख्ती आई। जाति-पाँति का शिकंजा

मजबूत हुआ। अन्तर्जातीय सम्बन्ध-सम्पर्क बन्द हुआ। यहाँ तक कि जैन लेखक सोमदेव (लगभग ९५९ ई०) ने अपने 'नीतिवाक्यामृत' में ब्राह्मणों के ढंग की सामाजिक व्यवस्था को मान लिया और जैन विद्वान् हेमचन्द (१०८९--११७९ ई०) ने अपने 'लघ्वर्हन्नीतिशास्त्र' में ब्राह्मणों के अधिकारों को स्वीकार किया और जैन कवि जिनदत्तसूरि (१०७५–११५४ ई०) ने अपने 'उवएसरसायण' (उपदेश रसायन) में अपनी जाति के बाहर रिश्ता-नाता करने की मनाही की। (२) राजपूतों में जो विदेशी और साधारण कोटि के लोग थे उन्हें स्वभावतः ऋद्धि-सिद्धि, मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके में रुचि थी। वे करामातों और चमत्कारों में बहुत विश्वास रखते थे और अद्भुत् और अलौकिक बातों के शौक़ीन थे। अतः उनके युग में धर्म में इन चीज़ों का समावेश हो गया। इसमें मंत्र-तंत्र का ज़ोर हो गया। उसका लक्ष्य अलौकिक सिद्धि प्राप्त करना और चमत्कार दिखाना रह गया। उसमें तरह-तरह की अटपटी और कभी-कभी भयंकर साधनाओं का बोलबाला हो गया। राजा लोग उन धर्म-गुरुओं को पसन्द करने लगे जो अपनी सिद्धियों से उनके उल्लू सीधे कर सकें। कन्नौज में प्रतिहार राजाओं के दरबार में राजशेखर कवि का 'कर्पूरमंजरी' नाटक खेला गया जिसमें भैरवनाथ नामक शैव सिद्ध को आसमान से चाँद उतार कर पृथ्वी पर लाते हुए और दक्षिण के राजा वल्लभराज की पुत्री को जादू से कन्नौज खींच लाते हुए दिखाया गया जिससे वहाँ का राजा चक्रवर्ती कहला सके। गुजरात के राजा यह सोचते रहे कि कोई सिद्ध-गुरु जादू से महमूद गजनवी को पालकी सहित खींच कर उनके चरणों में ले आएगा (जिन मण्डन, कुमारपाल चरित, पृ० २१३, ब्यूलर द्वारा लिखित हेमचन्द्र के जीवन चरित पृष्ठ ५४ पर उद्धृत)। उड्डियान के राजा पर जब मुलतान के किसी मुसलिम शासक ने हमला किया तो सिद्ध पद्म-सम्भव ने जादू से उसकी किश्तियाँ डुबा दीं, ऐसा तिब्बती ग्रन्थों में लिखा है। वास्तव में उस ज़माने में हर व्यक्ति जादू-टोने को बहुत मानता था, इसलिए हर सामन्त अपने साथ कोई सिद्ध रखता था। हर गढ़-गढ़ी के पास किसी साधु-सिद्ध की कुटी होती थी जहाँ मंत्र-तंत्र की साधना बराबर चलती थी और सुरंगों से लोगों का आना जाना बना रहता था। बनारस में जयचन्द्र गाहडवाल की रानी कुमारदेवी के विहार में एक सुरंग मिली है। ऐसे वातावरण में नौ नाथों और चौरासी सिद्धों, की बातें बहुत चालू थीं और लोकमानस पर उनका बड़ा प्रभाव था। (३) सिद्धों योगियों और तांत्रिकों की ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के साथ पटरी नहीं बैठती थी। वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धन उन्हें खलते थे। शास्त्रों की कठोरता उन्हें अखरती थी। अतः वे अनायास ही उन सामाजिक आन्दोलनों के नेता बन गए जो वर्णों और वर्गों के आधिपत्य के विरुद्ध उठ रहे थे। जैसे-जैसे समाज के बन्धन सख्त होते गए, जाति-पाँति की बेड़ियाँ कड़ी होने लगीं, ऊँच-नीच की खाई चौड़ी होने लगी, छोटे वर्गों और निचली कौमों की परेशानी बढ़ने लगी, उनमें समाज विरोधी आंदोलन

जारी होने लगे और वे विद्रोह के रास्ते पर चलने लगे। चूँकि सिद्ध, योगी और तांत्रिक खुद शास्त्रीय आचार और उससे सम्बन्धित जाति-पाँति की व्यवस्था के विरुद्ध थे इसलिए उन्होंने इस व्यापक विद्रोह को उत्तेजित किया और एक प्रबल आन्दोलन का रूप दिया इस कारण हम इस युग में एक भयंकर सामाजिक उथल-पुथल पाते हैं जिसने समाज और संस्कृति की सभी मर्यादाओं और परम्पराओं को तहस-नहस किया। (४) जब उत्तरी भारत में उपर्युक्त परिस्थिति के कारण धर्म और संस्कृति संघर्ष और खलबली में पड़ती जा रही थी तो दक्षिणी भारत से ऊँचे विचारों और आदर्शों की लहरें उमड़-उमड़ कर सारे देश को नई स्फूर्ति और चेतना दे रही थीं। दक्षिणी भारत के शैव आडियार और वैष्णव आलवार और वेदान्ती विचारक भक्ति और ज्ञान की गंगा बहा रहे थे जो सारे देश को खींचने के लिए उत्तर की ओर चढ़ती जा रही थी। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नवीं सदी के शुरु में शंकराचार्य ने देश के कोने-कोने में घूमकर वेदान्त का सिंहनाद किया और किस तरह ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में रामानुज ने कश्मीर तक सब स्थानों में अपने दर्शन की भेरी बजाई और आगे हम देखेंगे कि किस ढंग से पन्द्रहवीं सदी में रामानन्द ने उत्तरी भारत में भक्ति का आन्दोलन चलाया। दक्षिण से आने वाले इस ज्ञान और भक्ति के ज्वार ने उत्तरी भारत के सिद्धों, योगियों और तांत्रिकों की साधना के गन्दे तत्त्वों को बहाकर उसे शुद्ध कर दिया। फलतः तांत्रिक और शाक्त मत वेदान्त के धरातल पर स्थित हो गया और उसमें एक ऊँचे दर्शन की पुट आ गई जिसके कारण भारत के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

सिद्ध परम्परा का विकास

सिद्ध परम्परा राहुलश्रीभद्र से प्रारंभ होती है। उन्होंने नालन्दा में शिक्षा पाई। उनके गुरु हरिभद्र थे। ये बंगाल के राजा धर्मपाल (७७०–८१५) के सम-कालीन थे। अपनी शिक्षा समाप्त कर उन्होंने समाज के अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई और ऊँच-नीच के भेद का खण्डन किया। छोटी श्रेणी के लोगों का समर्थन करने के लिए उन्होंने उन्हीं जैसा रहन-सहन अपना लिया। वे एक तीर बनाने वाले की तरह उस व्यवसाय की एक लड़की के साथ रहने लगे। इससे उनका नाम सरहपाद पड़ा। उन्होंने नालन्दा से दक्षिण में श्रीपर्वत (नागा-र्जुनीकोडा) की यात्रा की और फिर वे सारे उत्तरी भारत में घूमे। सब जातियों और श्रेणियों के लोग भारी संख्या में उनके साथ हो गए। एक निषाद उनका प्रमुख शिष्य बना और शबरपाद कहलाया। शबरपाद का शिष्य लुईपाद राजा धर्मपाल के दरबार का कर्मचारी था। इससे ऊँची जगहों पर उनका मत पहुँचने लगा। सरहपाद

उच्चकोटि के लेखक थे। तिब्बती भाषा में उनके सात संस्कृत और सोलह अपभ्रंश ग्रन्थों के अनुवाद मिलते हैं। उनका 'दोहाकोश' मूल और अनुवाद दोनों रूपों में मिला है। उसमें उन्होंने उस काल के धर्मों के दिखावटी आचारों की खिल्ली उड़ाई है। वे लिखते हैं कि ब्राह्मण चारों वेद पढ़ते हैं और अग्नि में आहुति डालकर कड़ुए धुएँ से अपनी आँखों को डबडबाते हैं लेकिन उन्हें दुनिया की कुछ खबर नहीं है और वे सच और झूठ का भेद नहीं जानते :

ब्रह्मणेहि म जानन्तहि भेउ। एवर पढ़ि अड़ एच्चडवेउ।
मट्टि पाणि कुस लई पढन्तँ। घरहि बइसी अग्गि हुणन्तँ।
कज्जे विरहिअ हुअवह होमें। अक्खि उहाविअ कड्डुए धूमें।

(दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन का संस्करण, पृष्ठ २)

इसी तरह भगवा वेशधारी एकदण्डा और त्रिदण्डी साधुओं के बारे में वे कहते हैं कि वे अपने को ज्ञानी मानकर उपदेश करते फिरते हैं और बेकार दुनिया को भुलावे में डालते हैं क्योंकि उन्हें धर्म-अधर्म का कुछ पता नहीं है।

एकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ बेसें। विणुवा होइअइ हंस उएसें।
मिच्छेहि जग वाहिअ भुल्लें। धम्माधम्म ण जाणिय तुल्लें॥

(दोहाकोश, पृष्ठ २)

जात-पाँत और खान-पाँन के भेद को मिटाने के लिए वे साफ कहते हैं कि खुले रूप से चाण्डालों के घर भोजन करो।

जइ चण्डाल-घरें भुञ्जइ तअवि ण लग्गइ लेउ।

(दोहाकोश, पृष्ठ २६)

सिद्धों में छोटी जातियों और निचले वर्गों की प्रमुखता

सरह की प्रारंभ की हुई सिद्धों की परम्परा बराबर चलती रही। इसमें चौरासी सिद्ध प्रसिद्ध हैं। उनमें देश के सब भागों, सब वर्गों और सब जातियों के लोग शामिल हुए। मगध के शान्तिपाद, उड़ीसा के डोगीपाद और काँची के नागार्जुन आदि ब्राह्मण, बंगाल के वीणापाद, उड़ीसा के दारिकपाद और मगध के डोम्बीपाद आदि क्षत्रिय, बंगाल के लुईपाद आदि कायस्थ, देवीकोट के उढ़लीपाद, भागलपुर के मेकोपाद और शायद पाटलिपुत्र (शालीपुत्र) के अजोगीपाद आदि वैश्य, उज्जैन का तन्तिपाद जुलाहा, उड़ीसा का चमरीपाद चमार, मगध का धोम्बीपाद धोबी, वहीं का कमरिपाद लोहार, ओदन्तपुरी का जोगीपाद डूम, बघेलखण्ड का कण्टालीपाद दर्जी, श्रावस्ती का भादेपाद रंगरेज (रंगने वाला), दिसुनगर का गुण्डरीपाद चिड़ीमार और असम का मीनपाद मछुआ और अनेक शूद्र इस परम्परा के सिद्ध कहलाए। इनमें लक्ष्मींकरा जैसी राजकुमारी और मणिभद्रा जैसी नौकरानी

भी बराबरी की श्रेणी पर सिद्ध बनी। इस तरह सिद्ध समाज में सब जातियों और व्यवसायों के लोगों को और स्त्री पुरुष दोनों को शामिल होने का समान अवसर था, लेकिन छोटी जातियों और निचले वर्गों के लोगों से इसे खास लगाव था। इसलिए इन सिद्धों के साहित्य में सारी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ छोटी श्रेणी के लोगों से ली गई हैं। इनका जो नैरात्म्य (दुनिया में आत्मा जैसे किसी स्थायी पदार्थ का न होना) का मूल-विचार है उसे उन्होंने डूमनी के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है। इसलिए नैरात्म्य का ज्ञान प्राप्त करने को वे डूमनी के साथ संगत करना और उससे विवाह करना कहते हैं। उनके लगभग सारे पदों और गीतों में यही भाव है।

वज्रयान का आविर्भाव और स्वरूप

सिद्धों का सारा दर्शन नैरात्म्य (संसार में आत्मा जैसे किसी स्थायी पदार्थ का न होना) और शून्य (दुनिया में उत्पन्न और नष्ट होने वाले क्षण-बिन्दुओं की सन्तति चलना) पर निर्भर है। ये विशुद्ध बौद्ध विचार हैं। इससे प्रकट होता है कि सिद्ध विशेषता से बौद्ध थे यद्यपि इनमें शैव और शाक्त विचार भी जड़ पकड़ रहे थे। वस्तुतः उस समय में ये सभी मत अधिकाधिक लोकप्रिय होने के लिए एक दिशा में चल रहे थे और इनका आपस में घुल-मिलकर एक हो जाना अवश्यम्भावी था। सातवीं सदी के अन्त में बौद्धों पर तान्त्रिक आचार का प्रभाव पड़ने लगा था, किन्तु आठवीं सदी में तो वे पूरी तरह इसके रंग में रंग गए थे। ७०५ ई० के लगभग पूर्वी भारत के किसी राजा गोपाल के पुत्र अनंगवज्र ने अपने 'प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि' नामक ग्रन्थ के द्वारा तंत्र-समन्वित बौद्ध मत को, जिसे वज्रयान कहते हैं, शास्त्रीय रूप दिया। ७१७ ई० के लगभग अफगानिस्तान की स्वात-घाटी में उद्यान (उड्डियान) नाम के प्रदेश के राजा इन्द्रभूति ने वज्रयान का प्रचार किया और उस पर तेइस ग्रन्थ लिखे जिनमें से 'ज्ञानसिद्धि' और 'कुरुकुल्लासाधन' संस्कृत में मिलते हैं। उनकी बहन लक्ष्मींकरा (७२९) ने अपनी रचना 'अद्वयसिद्धि' में धर्म और समाज की सभी रूढ़ियों और मर्यादाओं पर प्रहार किया, निर्वाण प्राप्ति के सहज (आसान) रूप पर वल दिया और उनके शिष्य पद्मसम्भव ने ७४७ ई० में तिब्बत जाकर दो वर्ष बाद वहाँ समये का बौद्ध मठ स्थापित किया और इस धर्म को टोने-टोटकों से भर दिया। इस प्रकार वज्रयान पूरे जोर से चल पड़ा। उसकी खास मान्यता यह है कि दो मौलिक तत्त्व 'शून्यता' और 'करुणा' हैं। 'शून्यता' जगत् का वास्तविक रूप है और 'करुणा' इसे चलाने वाला तत्त्व है। शून्यता को प्रज्ञा और करुणा को 'उपाय' कहते हैं। इनके प्रतीक पुरुष और स्त्रा हैं। इन दोनों के मिलने को 'युगनद्ध' कहते हैं। इससे 'बोधिचित्त' पैदा होता है। यह परम ज्ञान, महासुख और निर्वाण है। शून्यता चूँकि कठोर अकाट्य सत्य है इसलिए इसे 'वज्र' कहते हैं। इसका ज्ञान-समन्वित रूप 'वज्रसत्त्व' है (अद्वयवज्र-संग्रह, हर प्रसाद शास्त्री

का संस्करण, पृष्ठ २४)। इसे 'वज्रधर' भगवान के रूप में पूजा जाता है (श्रीगुह्यसमाजतंत्र अध्याय १७)।

बौद्ध धर्म के तांत्रिक रूप पर विदेशी प्रभाव

बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्ति के विकास को विदेशी प्रभाव से भी बहुत प्रेरणा मिली। बौद्ध धर्म तिब्बत, मध्य-एशिया, चीन और दक्षिण पूर्वी एशिया में फैल गया और इस सिलसिले में इसमें यहाँ के आचार-विचार शामिल होने लगे और खासतौर से वहाँ के निम्न वर्गों के लोगों के गन्दे रिवाज घुसने लगे। 'रुद्रयामल' में लिखा है कि एक बार वशिष्ठ महाचीन (चीन) में बौद्धों की सभा में गए और वहाँ उन्होंने बुद्ध को स्त्रियों की संगति में गन्दी बातें करते देखा। यह देखकर वे चौंके किन्तु बुद्ध ने उन्हें कौल-मार्ग का उपदेश दिया जिसमें मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा (हड्डी का आभूषण अथवा स्त्री) और मैथुन का विधान था। (तन्त्रसार, परिशिष्ट, पृष्ठ २३)। इस पंच मकार वाले आचार को 'चीनाचार' कहते हैं। इसी के साथ तारा' देवी की पूजा का रिवाज भी बढ़ा। इसे महाचीनतारा भी कहते हैं। इसे ाधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के साथ दिखाया जाता है। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तीय (७६४–८१४) के नेसारी पट्टलेख से पता चलता है कि बंगाल के पाल राजाओं के झण्डे पर तारा की आकृति थी। कालान्तर में तिब्बत की बहुत सी देवियाँ भी डाकिनी, शाकिनी और लाकिनी के रूप में बौद्ध आचारों में प्रविष्ट हुईं।

मच्छन्दरनाथ का योगिनी कौल मार्ग

इस युग में शैव धर्म भी नया रूप ले रहा था। यह रूप नाथ पंथ कहलाता है। इसमें नौ नाथों को दिव्य पुरुष माना जाता है। यद्यपि पहिले नाथ स्वयं शिव माने जाते हैं किन्तु इस पंथ को दसवी-ग्यारहवीं सदी में मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छन्दर-नाथ ने व्यवस्थित किया। उनका जन्म बंगाल में (बकरगंज जिले के कछुवा और बाकला या बगला परगनों में, जिन्हें प्राचीन काल में चन्द्रद्वीप कहते थे) एक धीवर या मछुवे के घर हुआ। बड़ा होने पर वे असम के निचले भाग कामरूप में चले गये। उन्होंने और प्रदेशों की खासतौर से पहाड़ी इलाकों की भी जिन्हें कदलीबन कहते थे, यात्राएँ कीं। उनका मार्ग 'योगिनी-कौल' कहलाता है। उसके सिद्धांत उनके ग्रन्थ 'कौलज्ञाननिर्णय' और 'अकुलवीरतंत्र' में मिलते हैं। उनके अनुसार शिव का नाम 'अकुल' है और उसकी शक्ति का नाम 'कुल'। ये दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। इनके संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है और इस संयोग को मानव जीवन में अनूदित करना ही धार्मिक साधना का लक्ष्य है। इस संयोग का प्रतीक स्त्री पुरुष का संबंध है। अतः इस साधना का सारा कृत्य स्त्रियों को

साथ लेकर होता है। यह साधना वज्रयानी बौद्धों की साधना से काफी मिलती-जुलती है। इसलिए मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है और तिब्बत में उन्हें सिद्ध लुईपाद के रूप में पूजा जाता है। वे स्वयं 'अकुलवीर-तंत्र' में शिव और बुद्ध की एकता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ के मार्ग में शैव और बौद्ध साधनाओं के तांत्रिक रूपों का एकीकरण हुआ है।

गोरखनाथ का योग मार्ग

मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ थे। भारत के धार्मिक इतिहास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनके जीवन के बारे में निश्चित तथ्यों का अभाव है क्योंकि वे आख्यानों में खो गए हैं लेकिन उनकी भाषा से प्रतीत होता है कि वे उत्तर-पश्चिमी भारत के रहने वाले थे। रावलपिण्डी जिले की गूजरखाँ तहसील के गोरखपुर गाँव को उनका जन्मस्थान बताया जाता है। झेलुम जिले में गोरखनाथ का टीला, पेशावर शहर में गोरख हटरी और बलूचिस्तान की लास बेला रियासत में गोरख की धूनी का भी उनसे संबंध बताया जाता है। किन्तु उन्होंने सारे देश की विस्तृत यात्राएँ कीं और उनके नाम पर स्थान-स्थान पर मठ और गद्दियाँ बनीं। उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा ली किन्तु उनके उच्छृंखल मत की आलोचना की। उन्हें स्त्रियों से सम्बन्धित साधनाएँ बिल्कुल पसन्द न थीं। वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के प्रबल समर्थक थे। उनका विचार था कि स्त्रियों के संसर्ग में योग की साधना असम्भव है (गोरखबानी, पीताम्बर दत्त बड्थ्वाल का संस्करण, पृ० ८८)। अतः उन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को फटकारा और उस काल के धार्मिक जगत् में इन्द्रियनिग्रह और पवित्र जीवन का सशक्त आन्दोलन चलाया। उनके 'योगमार्ग', 'गोरक्षासिद्धान्त-संग्रह' आदि ग्रन्थों के आधार पर उनके मत की निम्नलिखित रूपरेखा अंकित की जा सकती है। परम तत्त्व परमशिव है। जब उसमें सृष्टि करने की इच्छा होती है तो वह शक्ति बन जाता है। इस शक्ति की पाँच अवस्थाएँ हैं, निजा (परमशिव में लीन), परा (प्रकट होने की प्रक्रिया), अपरा (अभिव्यक्ति की दशा), सूक्ष्मा (अहंकार का उद्भव), और कुण्डली (अहंकार की चेतना की क्रिया)। उनके अनुरूप शिव के भी पाँच रूप हैं, अपर, परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा। उनमें आनन्द के पाँच स्तर हैं, परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन अवस्थाओं के परिणामस्वरूप ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। उसकी प्रतिकृति पिण्ड है। कुण्डलिनी में जो शक्ति है उसे सुषुम्ना के रास्ते छः चक्रों में को ऊपर की ओर प्रवृत्त कर शिरस्थान में अमृत के केन्द्र सहस्रार में ले जाने से शक्ति और शिव का सायुज्य या परमशिव की प्राप्ति होती है। यह सारी प्रक्रिया योग की है। वीर्य की रक्षा, श्वास के नियमन और रसों के प्रयोग से इस योग की साधना में सहायता मिलती है। देश के हर गाँव और

कस्बे में गोरखनाथ के अगणित किस्से प्रचलित हैं और यह मान्यता है कि उनके नाम लेने से ही सिद्धि मिल जाती है (सिद्धि होइ कहँ गोरख कहा) (पद्मावत, वासुदेव शरण अग्रवाल का संस्करण, पृ० २१)।

नाथ पन्थी योगियों की बहुतायत

गोरखनाथ के समसामयिक जलन्धरनाथ थे। इन्हें पश्चिम में जलंधरनाथ और पूर्व में हाडीपा कहते थे। उनके शिष्य कण्हपा (कृष्णपाद) पूर्वी भारत के रहने वाले थे जैसा कि उनकी भाषा से ज्ञात है। लगभग उसी समय गोरखनाथ के शिष्य चर्पटी ने चम्बा की पहाड़ी रियासत के संस्थापक राजा साहिल को दीक्षा दी। पंजाब में सियालकोट के राजा रसालू के बड़े भाई पूरन भगत यां चौरगीनाथ और बंगाल में राजा गोपीचन्द और उनकी माँ मैनावती भी नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर बड़े सिद्ध बने। इन नाथ-सिद्धों और उनके चेलों-चाँटों में करामात दिखाने की होड़ रहती थी और इसलिए अक्सर उनकी खटपट चलती थी। लेकिन साधारण जनता उनसे बहुत प्रभावित थी और उनमें अटूट विश्वास रखती थी। उनका विचार था कि उनके आशीर्वाद से असम्भव से असम्भव काम भी हो सकता है। वे समझते थे कि सिद्धि प्राप्त करने के लिए और अमर होने के लिए उनके चरणों में जाकर योग की साधना करना ज़रूरी है। इसलिए टोल के टोल, राजा और रंक, घरवार छोड़ कर योगी बनके, और फटे कानों में मुद्रा पहने, सिर पर जटा लटकाए और टोपे रक्खे गले में रंग-बिरंगे योगपट् (जौगडे) लटकाए, कन्धे पर सिगीयाँ डाले और हाथ में सोटे लिए घर-घर अलख जगाते फिरते थे। राजा रतनसैन के बारे में मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा है कि उन्होंने पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए योग साधा और उनके साथ सोलह हजार राजकुमार योगी बने।

तजा राज राजा भा जोगी। औ' किगरी कर गहें बियोगी ॥
राय राने सब भये बियोगी। सोरह सहस कुँवर भये जोगी ॥

(पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल का संस्करण, पृ० १२६)

उस जमाने में ऐसे योगियों की बड़ी-बड़ी टोलियाँ इधर से उधर घूमा करती थीं।

सिद्धों, वज्रयानियों, तांत्रिकों आदि का अनैतिक आचार और इसके पीछे सामाजिक विद्रोह की भावना

ऊपर हमने जिन सिद्धों, वज्रयानियों, नाथपन्थियों और तांत्रिकों की चर्चा की है वे खुली अनैतिकता के प्रचारक मालूम होते हैं। उनके मतों में सब कुछ खाने पीने और भोगने की खुली छुट्टी दिखाई देती है। इन्द्रभूति 'ज्ञान सिद्धि' में लिखते हैं कि योगी को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए कि क्या खाना है क्या नहीं, क्या पीना है क्या छोड़ना है, कहाँ जाना है, कहाँ से बचना है (भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्त :

यापेयविवर्जितः गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः ।।) (भट्टाचार्य, टू वज्रयान वर्क्स, पृ० २२—३)। 'कूलारावितंत्र' (अध्याय ९) कहता है कि कौलिकों को उन चीजों को खाना चाहिए जिन्हें जन साधारण बुरा समझते हों, उन पेयों को पीना चाहिए जिनसे और परहेज करते हों और उन जगहों पर जाना चाहिए जो उन्हें नापसन्द हों। इसी तरह 'अकुलवीरतंत्र' में लिखा है कि साधक को व्रत, श्राद्ध, उपवास, तीर्थयात्रा आदि के फन्दे में नहीं फंसना चाहिए और खाने-पीने के चक्कर से निकलना चाहिए (कौल ज्ञान निर्णय, प्रबोधचन्द्र बागची का संस्करण, पृ० ८८)। मद्य और माँस, रक्त और मज्जा का तो कहना ही क्या, मूत्र और विष्टा तक उनके लिए विहित बताई गई है। यह तो कहा ही गया है कि नित्य गोमांस भक्षण करो और वारुणी का पान करो ; यहाँ तक भी इजाज़त दी गई है कि लोगों की चीज़ें चुराओ, औरतें भगाओ, जानें लो और झूठ बोलो (भट्टाचार्य, टू वज्रयान वर्क्स, पृ० ३२)। प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने ऐसी अनुचित बातें क्यों कहीं। समाज ने इन्हें क्यों सुना। प्राचीन टीकाकारों ने इनकी लाक्षणिक व्याख्या की है। जैसे 'हठयोग प्रदीपिका' (३. ४६—४८) में लिखा है कि गोमांस का अर्थ जीभ को मोड़ कर तालु में लगाना है और वारुणी का अर्थ शिरस्थान में ब्रह्मरन्ध्र के निकट सहस्रदल कमल की जड़ के पास की योनि में स्थित चन्द्रमा से रिसने वाला रस है। इसी प्रकार 'चर्यापदों' की टीका में मुनिदत्त ने डूमनी का अर्थ नैरात्म्य और शराब बेचने वाली (शुण्डिनी) का मतलब इडा और पिंगला नाम की नाड़ियों के बीच चलने वाली सुषुम्ना नाड़ी बताया है। 'हेवज्रतंत्र' में लिखा है कि ललना का अर्थ स्त्री नहीं बल्कि इस नाम की नाड़ी है और मुद्रा भी स्त्री को नहीं कहते बल्कि इससे उँगलियों के विशेष चिह्नों का बोध होता है। अतः मद्य, माँस और मैथुन के अर्थ वे नहीं हैं जो लोक में माने जाते हैं बल्कि वे योग, रस और वज्र की साधनाओं की परिभाषाएँ हैं। ये व्याख्याएँ ठीक हो सकती हैं, लेकिन सवाल यह है कि इन भावों को प्रकट करने के लिए ऐसी गन्दी शब्दावली क्यों इस्तेमाल की गई। शब्दों का ऐसा क्या टोटा आ गया था कि ऐसी अश्लील और अनैतिक परिकल्पनाओं को ग्रहण करना पड़ा। इसका जवाब यही है कि इन लोगों में सामाजिक विद्रोह का भाव इतना अधिक था कि ये जानबूझकर धक्कामार भाषा का प्रयोग करना चाहते थे। इन्हें जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद-भाव पर टिकी सामाजिक व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्रीय विधान और नैतिक आचार से इतनी घृणा थी कि वे इरादा करके चिढ़ाने और भड़काने वाली बातों का प्रचार करते थे। जायसी ने लिखा है कि योगियों की कोई जाति नहीं थी :

का पूँछउ अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपा भिखारी ।।
जोगिहिं जाति कौन हो राजा। गारि न कोह मार नहिं लाजा ।।
(पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल का संस्करण, पृ० २४९)

अतः जिस शिष्टाचार का ऐसी संस्कृति से संबंध हो जो जातिगत अधिकारों का पोषण

करती हो उसकी धज्जियाँ उड़ाना वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। उनके गर्हित लगने वाले आचार-विचार के पीछे व्यापक असंतोष, प्रबल विद्रोह और भयंकर क्रान्ति का तूफान था। वे एक जबरदस्त सामाजिक क्रान्ति के जन्मदाता थे जिसने उस जड़ता की अवस्था में मानव समानता के स्वर को ऊँचा किया और संस्कृति के शिथिल अंगों में नया स्पन्दन पैदा किया। इस क्रान्ति और विद्रोह की पृष्ठभूमि को जाने विना यह समझना कठिन है कि इस युग के ऐसे नेता और विचारक कैसे इतनी लचर बातें कह सके।

तंत्र और वेदान्त

सिद्धों, योगियों और तांत्रिकों की दार्शनिक जड़ें काफी गहरी थीं। इन्हें निरे कामी-कपटी या खाऊ-पिऊ कह कर नहीं टाला जा सकता। दक्षिण से ज्ञान की, विशेषतः वेदान्त की, जो धारा उमड़ रही थी उसमें इन्होंने पूरी तरह डुबकी लगाई। अतः उनके विचारों और उनकी कृतियों पर वेदान्त की गहरी छाप हैं इनका सारा ठाठ अद्वैत भावना पर टिका है। 'महानिर्वाणतंत्र' (३. ६) कहता है कि ब्रह्म निर्विशेष सत्तामात्र है, उस तक वाणी और मन नहीं पहुँच सकते, वह तीनों लोकों की भ्रान्ति के बीच चमकता हुआ सत्य है (सत्तामात्रं निर्विशेषं अवाङ्मानसगोचरम्। असत् त्रिलोकी सद्भावं स्वरूपं ब्रह्मणः स्मृतम्)। किन्तु वह इस मत का सांख्य के साथ समन्वय करते हुए कहता है कि प्रकृति और पुरुष इसी के अन्तर्गत हैं और इसी के रूप हैं। उसे रामानुज का यह सिद्धान्त पसन्द नहीं कि ब्रह्म में चित् और अचित् दो तत्त्व हैं जो जीव और जगत् के रूप में प्रकट होते हैं। वह तो यह मानता है कि ब्रह्म और उसकी शक्ति बिल्कुल एक हैं और वही बहुविध रूपों में प्रकट होकर दुनिया का रूप बनता है। एक दृष्टि से यह परिणाम है और दूसरी से विवर्त, यानी इसे ब्रह्म का विकार भी कहा जा सकता है और उस विकार का आभास भी क्योंकि इसमें ब्रह्म अनेक रूपों में रहता हुआ भी एक ही रहता है। 'कूलार्णवतंत्र' का कहना है कि कुछ लोगों को अद्वैत पसन्द है और कुछ द्वैत को अच्छा समझते हैं लेकिन जो ब्रह्म के असली रूप को जानते हैं उनके लिए वह अद्वैत-द्वैत से परे है (अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे। मम तत्त्वं विजानन्तो द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥) यह तंत्र फिर कहता है कि साधक अपनी सुविधा के लिए निर्गुण ब्रह्म के रूप की कल्पना कर लेते हैं (साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना)। यह केवल उसके विश्वास का मूर्त रूप होता है।

शाक्त तंत्रों का दर्शन

शाक्त तंत्रों के अनुसार परम सत्य 'संवित्' है। इसे 'प्रकाश' कहते हैं। यह देश, काल और तर्क के परे है। इसमें क्रिया की अबाध स्वतंत्रता है। यह इसकी शक्ति है, इसके साथ एक है और इसमें [illegible] रहती है। इसका [illegible] नाम 'विमर्श' या

'स्वातन्त्र्य' है। इसमें सारी सृष्टि निहित है।

प्रकाश और विमर्श एक ही अद्वैत संपूर्ण तत्त्व के रूप हैं। प्रकाश का चिह्न 'अ' है, विमर्श का 'ह' और इनके योग का 'म'। इस 'अ+ह+म' (अहम्) से ही सारी सृष्टि होती है।

शक्ति या विमर्श के तीन रूप हैं। प्रलय काल में यह निर्विकल्प रूप में 'चित्शक्ति' रहती है। इसके बाद इसमें विकल्प की प्रवृत्ति होती है तो यह 'माया शक्ति' बनती है। फिर इसमें विकल्पों का विस्तार होता है और भौतिकता आ जाती है और यह 'प्रकृति' कहलाने लगती है।

प्रारंभ में चैतन्य और भूत का भेद नहीं रहता। इसे 'बीजावस्था' कहते हैं। इसके बाद इससे जीव और भूत सूक्ष्म रूप में प्रकट होते हैं। इस अवस्था में पांच मिश्र तत्त्वों की बहुलता रहती है। वे हैं माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति। फिर इनके योग से स्थूल जगत् का विकास होता है। इसमें प्रकृति से लगाकर पृथ्वी तक चौबीस तत्त्वों की प्रधानता रहती है।

'शारदातिलकतंत्र' (१. ७) में सृष्टि के क्रम को इस प्रकार समझाया गया है: सकल सच्चिदानन्द परमात्मा शक्ति के रूप में प्रकट हुए, उनसे 'नाद' उत्पन्न हुआ और 'नाद' से 'बिन्दु' बना (सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमात्मन:। आसाच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भव: ।।) जैसा कि 'शिवपुराण' में लिखा है परम तत्त्व 'शिव' में 'शक्ति' का स्फुरण ऐसे होता है जैसे तिलों में से तेल निकल आता है। अर्थात् अपनी इच्छा से ही शक्ति शिव के रूप में प्रकट होती है। पहिले इससे 'शून्य' (खाली जगह) में भरा हुआ 'शब्द' (नाद) होता है। फिर यह 'नाद' केन्द्रीभूत होकर 'बिन्दु' बनता है। 'प्रपंच सार-तंत्र' (१. ४२—३) के अनुसार 'काल' जो 'नित्य पुरुष' का बाहरी रूप है, इस 'बिन्दु' के सामंजस्य को भंग करता है। जब 'बिन्दु' टूटता है तो उससे 'शब्द-ब्रह्म' या 'कुल-कुण्डलिनी' उत्पन्न होती है। इसकी शकल तिकोनी बताई गई है। इसकी तीन भुजाएँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। इसी से सूक्ष्म सृष्टि और फिर स्थूल सृष्टि होती है।

तंत्रों में 'शिव' या 'प्रकाश' को 'श्वेत बिन्दु', 'शक्ति' या 'विमर्श' को 'लोहितबिन्दु' और इन दोनों के योग 'सोऽहं' को 'श्यामबिन्दु' कहा गया है। इनकी समष्टि 'महाबिन्दु', 'मिथुनपिण्ड', 'कामकला' या 'त्रिपुरसुन्दरी' कहलाती है। किन्तु 'गन्धर्वतंत्र' यह स्पष्ट करता है कि इनमें लिंग भेद नहीं है। स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग का प्रयोग तो केवल शाब्दिक व्यवहार है।

शब्द से ही सृष्टि बनी है। 'अ' 'इ' 'उ' इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। 'अ' से 'ह' तक सारे अक्षर मिलकर 'अहं' बनता है जो शिव शक्ति का सक्रिय रूप हैं। इन अक्षरों के विभिन्न योग बहुविध जगत् को प्रकट करते हैं। अत: सारा जगत् मंत्रों से बना है। इसी प्रकार शरीर मंत्र-मय है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड में

समान मंत्र हैं। अतः इन मंत्रों को समझने और जपने से परम ज्ञान मिलता है।

तंत्र शिव के शक्ति रूप अर्थात् क्रियात्मक रूप को ही प्रधानता देते हैं। अतः उनके लिए शक्ति ही प्रमुख तत्त्व है। सब कुछ इसी से होता है। यही विभिन्न रूपों में जगत् में व्याप्त है। यही सनातन सत्य है।

तंत्रों का दार्शनिक समन्वय

शाक्त तंत्रों का तत्त्ववाद बौद्ध तंत्रों से मिलता है। जैसे 'शिव' और 'शाक्त' के योग से 'सोऽहं' या 'प्रकाश' और 'विमर्श' के योग से 'मिथुनपिण्ड' बनता है। इसी 'शून्यता' या 'करुणा' या 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के योग से 'युगनद्ध' बनता है। वैष्णवों में इसके अनुरूप 'कृष्ण' और 'राधा' या 'रास' और 'रति' या 'काम' और 'मदन' के योग से 'नित्यवृन्दावन' की परिकल्पना की गई है। साधारण मान्यता के अनुसार इस भाव को सूरज और चांद और उनके मिलन का रूप दिया गया है (पद्मावत्, पृष्ठ २६५, २६७)। इस प्रकार भारतीय धर्म की सभी धाराएँ तंत्र रूपी समुद्र में आकर मिल गई हैं। प्रायः इतिहास की पुस्तकों में लिखा मिलता है कि बौद्ध धर्म भारत से निकाल दिया गया और इसका श्रेय शंकराचार्य और अन्य विचारकों को दिया जाता है। इससे बड़ी गलती दूसरी हो नहीं सकती। असलियत यह है कि बौद्ध और शैव-शाक्त मतों में एक ही तत्त्ववाद प्रचलित हो गया और वे अभिन्न रूप से घुल-मिल कर एक हो गए। तंत्र के द्वारा इनका स्थायी समन्वय हो गया और अब ये दूध और पानी की तरह एक हैं।

हज साधना का सामाजिक रूप

इस युग की साधना 'सहज' कहलाती है। यह शब्द सिद्ध सरहपाद से चला। इसका अर्थ है सीधा आसान रास्ता और आडम्बरहीन जीवन। इसके अनुसार मनुष्य सीधा सच्चा घरेलू जीवन बिताता हुआ भी और कुदरती तौर से आराम से रहता हुआ भी परम पद प्राप्त कर सकता है। सरहपाद कहते हैं कि घरबार छोड़ कर कहीं मत जाओ, घर में बीवी-बच्चों के साथ रहो :

झाणहीन पब्वज्जे रहअड। गही वसन्ते भाज्जै सहिअड।

(दोहाकोश, पृ० ६)

उनका मत है कि खाते, पीते और गृहस्थ भोगते भी हर प्रकार की सिद्धि मिल सकती है :

खाअन्ते पीवन्ते सुरअ रमन्ते। आलिडल बहलहो चक्क फिरन्ते।
एवहि सिद्धि जाइ परलोकह। माथे पाअ देइ भुअलोकह ॥

(दोहा कोश, पृष्ठ १२)

वे जोर से घोषणा करते हैं कि सारा संसार सहज आनन्द से भरपूर है इस लिए नाचो, गाओ और मजे उड़ाओ,

जइ जग पूरिअ सहजाणन्दे । णाच्चहु गाअहु विलसह चंगे ।

(दोहाकोश, पृ० ३०)

उनके अनुसार सहज मार्ग बीच का रास्ता है इसलिए हर बात की ज़्यादती से बचकर मिली जुली समन्वय की दृष्टि रखनी चाहिए :

वाम दाहिण जो खाल विखला । सरह भणइ बापा उजुवाट भइला ।

(चर्यागीतिकोश, शान्तिभिक्षु का संस्करण, पृष्ठ १०५)

दुनिया छोड़ना, बाल उखाड़ना, नंगे रहना, मोर का पर रखना और उपवास करना बिल्कुल बेकार है क्योंकि मोक्ष तो चित्त की स्थिति है (दोहा कोश पृष्ठ २, २६)। सब शास्त्रों के पाखण्ड और आम्डबर, सब सम्प्रदायों के ढोंग और सब साधनाओं की पेचीदा रस्में, यहाँ तक कि तंत्र और मंत्र के दुरूह कृत्य भी, मनुष्य को सीधे रास्ते से भटकाकर टेढी राह पर ले जाते हैं :

मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण । सव्ववि रे बढ़ विब्भमकारण ।।
पाण्डिअ सअल अत्थ वक्खाण अ । देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणअ ।।

(दोहाकोश, पृष्ठ ४, १८)

ऊँचे-नीचे, बड़े-छोटे, ब्राह्मण-चाण्डाल, पढ़े-अनपढ़ सभी आराम से इस सीधे सहज रास्ते पर चल सकते हैं। इसका सार केवल इतना है कि विषयों का भोग करते हुए उनमें लिप्त न हो :

बिसअ रमन्त ण बिसअहिं लिप्यइ । उअअ हरन्त ण पाणी च्छुप्यइ ।।

(दोहाकोश, पृष्ठ १७)

इस प्रकार स्पष्ट है कि सहज साधना में सामाजिक क्रान्ति, मानव-एकता और सांसारिक समन्वय का भाव निहित है। यह उस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की आवाज है जो जीवन को आचार-विचार और रीति-रिवाज के शिकंजे में जकड़ कर जड़, निष्क्रिय और नीरस बनाती जा रही थी। इसमें ऊबे हुए और चिढ़े हुए लोक-मानस की सहज अभिव्यक्ति है।

सहज साधना का दार्शनिक रूप

'सहज' का दार्शनिक रूप भी है। यह सारे जगत् का सार है (तस्मात्सहजं जगत्सर्वं सहजं स्वरूपमुच्यते । स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्धाकार चेतसा) ('हेवज्रतंत्र', रॉयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता की पाण्डुलिपि न० ११३१७ पृ० ३६ ब)। इसे सब वस्तुओं और पदार्थों (धर्मों) का मूलरूप कह सकते हैं। अतः कण्हपा (कृष्ण-पाद) इसे शून्यता का पर्याय बताते हैं (चिअ सहजे शून संपुन्ना) (चर्यागीतिकोश, पृ० १३७)। सरहपाद के अनुसार यह शून्यता और करुणा या प्रज्ञा और उपाय के

योग का नाम है। इसलिए इसकी पहचान युगनद्ध, समरस, महासुख या वज्रसत्व से की जा सकती है (दोहाकोश, पृष्ठ १४, ३०, १४२, १४६, १६६ ; चर्यागीति-कोश, पृ० ४४, ६१)। इस तरह 'सहज' की परिकल्पना में सारा तंत्र का दर्शन समाया हुआ है। यद्यपि इसके अनुयायी तंत्रों की जटिल साधनाओं के विरुद्ध थे, पर उन्होंने इसके दर्शन को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार उन्होंने दार्शनिक समन्वय पर स्थित होकर समाज के पाखण्डों का भण्डाफोड़ किया। वे तंत्र दर्शन के विरोधी नहीं थे, उनके रीति-रिवाज से घबराते थे।

सहज साधना का ध्वंसात्मक रूप

सहज साधना में तोड़-फोड़ का जोश तो काफी था लेकिन सृजन और निर्माण क्षमता कम थी। इसके साधकों ने समाज को ललकारा, शास्त्रों को फट-कारा और पंडितों और गुरुओं को धिक्कारा और उनके सभी रीति-रिवाज की छीछालेदार की लेकिन वे कोई ऐसी व्यवस्था तैयार न कर पाए जिससे समाज का नवनिर्माण, पुनर्जागरण, सुदृढ़ संगठन और सुनियोजित संस्थापन किया जा सके। उन्होंने मानव एकता और समानता पर बल दिया लेकिन इसके लिए संस्थाओं का नक्शा नहीं खींचा। इसी तरह उन्होंने सहज जीवन बिताने की हिमायत की किन्तु समाज के ढाँचे में ऐसी रचनात्मक तबदीली नहीं की जिससे सबके लिए ऐसा करना संभव हो सके। उनका सारा ध्यान व्यक्ति पर रहा, वे समाज को न देख सके। इसलिए सहज का सहारा लेकर बहुत से लोग अनाचार और अत्याचार की ओर चल पड़े। इससे समाज की व्यवस्था के भिन्न होने की आशंका बढ़ गई। अतः मध्यकाल में कबीर आदि ने इसका खुला विरोध किया। लेकिन यह सब कुछ कमी होते हुए भी इसमें संदेह नहीं है कि इसने राजपूत काल की सांस्कृतिक कठोरता को दूर कर उस ढांचे में लोच पैदा की।

नवाँ अध्याय

इस्लाम का योग

हजरत मुहम्मद

हजरत मुहम्मद (लगभग ५७१–६३२ ई०) ने अरब में इस्लाम धर्म का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि भगवान एक और सर्वशक्तिमान है। जो उस की आज्ञाओं को मानते हैं वे स्वर्ग के सुखों के अधिकारी हैं और जो उनका उल्लंघन करते हैं वे नरक में जायेंगे। निर्णय-दिवस (रोजेशुमार) को सब लोगों को उनके कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड दिए जायेंगे। कुछ निम्न वर्ग के लोगों ने तो इस शिक्षा को स्वीकार किया, किन्तु अधिकतर लोगों ने इसकी खिल्ली उड़ानी शुरू की। उनसे परेशान होकर मुहम्मद साहब के साथी तितर-बितर होने लगे और उन्हें खुद २४ सितम्बर ६२२ ई० को मक्के से मदीने की ओर प्रस्थान करना पड़ा। तब से प्रसिद्ध मुस्लिम संवत् हिजरी प्रारंभ होता है।

मदीने में मुहम्मद साहब का यथेष्ट सम्मान हुआ और बहुत से लोग उनके साथी हो गए। वहाँ रहकर उन्हें बहुत से युद्ध करने पड़े जिनमें इस्लामी जमाअत का संगठनात्मक रूप निखरा और इसमें बहुत से परिवर्तन आ गए जिनसे यह यहूदी और ईसाई धर्मों से बिल्कुल अलग हो गया। उदाहरण के लिए, यरुशलम की ओर मुँह करके प्रार्थना करने की बजाए मक्के की ओर मुँह करके प्रार्थना करना, सब्बत (रविवार) के स्थान पर जुमा (शुक्रवार) को पवित्र दिन मानना, बाजे-गाजे ओर घण्टे की जगह मीनार पर से अज़ान लगाना, मुहर्रम की दशमी को उपवास करने के बजाए रमजान में व्रत करना, काबा की यात्रा और वहाँ के काले पत्थर के चूमने को पुण्य मानना इस्लामी धर्म के मुख्य आचार हो गए।

कुरान

साक्षात्कार के क्षणों में मुहम्मद साहब को जो दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ वह 'कुरान' में संगृहीत है। 'कुरान' शब्द शामी शब्द 'करयाना' से निकला है जिसका अर्थ 'पाठ' है। ऐसी मान्यता है कि कुरान का मूल पाठ तख्तियों पर लिखा हुआ सातवें स्वर्ग में रक्खा है और अल्लाह के हुक्म से जब्रील ने उसे मुहम्मद साहब को सुनाया और उन्होंने उसे वर्तमान रूप में प्रस्तुत किया। कुरान में ११४ अध्याय हैं।

इनमें से ९० मक्के में संगृहीत हुए। ये छोटे और पैने हैं। इनमें अल्लाह की एकता, मनुष्य के कर्तव्य और अन्तिम निर्णय की अटलता की चर्चा है। २४ अध्याय मदीने में सम्पादित हुए। ये लम्बे और बड़े हैं। इनमें उपरोक्त विषयों के अलावा संगठन, आचार और कानूनों का प्रतिपादन है। इनमें इन्जील से मिलती-जुलती बहुत सी कथाएँ भी पाई जाती हैं। कुरान की भाषा तुकान्त गद्य है। इसमें सरस ध्वनि-प्रवाह और शब्द-चातुर्य है।

इस्लाम के तीन अंग

कुरान के अनुसार इस्लाम के तीन अंग हैं : (१) 'ईमान' (धार्मिक विश्वास), (२) 'इबादत' (उपासना), और (३) 'इहसान' (नैतिक आचार)।

ईमान

'ईमान' का अर्थ अल्लाह, उसके फरिश्तों, पैगम्बरों और निर्णय दिवस में श्रद्धा है।

इबादत

'इबादत' के पाँच स्तम्भ (अरकान) हैं : (१) 'शहादा'—कुरान के सूत्र 'ला-इलाह-इल्लल्लाह मुहम्मदुन् रसूलल्लाह' (अल्लाह के अतिरिक्त दूसरा भगवान् नहीं है और मुहम्मद अल्लाह का पैगम्बर है) का श्रद्धापूर्वक जप (२) 'सलाह'—दिन में पाँच बार मक्के की ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ना, जिनमें शुक्रवार (जुमे) की दोपहर की नमाज़ सार्वजनिक होती है, (३) 'जकात'—आमदनी का ढाई प्रतिशत दान करना, यह बाद में एक कर हो गया था जिससे निर्धन वर्ग का गुजारा होता था, मस्जिदों के खर्चे चलते थे और राज-काज की जरूरतें पूरी होती थीं, (४) 'रोज़ा—रमज़ान के महीने में व्रत करना, (५) 'हज्ज'—जीवन में एक बार अवश्य मक्के की यात्रा करना, इसमें यात्री लबादा (इहराम) पहनकर सात बार काबे की परिक्रमा (तवाफ) और सात दफा अल-सफा और मरवाह का आवागमन (सै) करता है, फिर अल-मजदलिफा और मिना होता हुआ अरफा जाता है, जमरत-अल-अक़बा पर पत्थर फेंकता है और मिना में ऊँट या भेड़ या किसी सींग वाले जानवर की बलि देता है। खारिजी नामक मुस्लिम दल के अनुसार 'जिहाद' (धर्मयुद्ध) इबादत का छठा स्तम्भ है। 'जिहाद' दो प्रकार की हैं : (१) 'जिहाद-ए-असग़र' (छोटी जिहाद) जो काफिरों के खिलाफ होती है, और (२) 'जिहाद-ए-अकबर' (बड़ी जिहाद) जो मनुष्य की अपनी वासनाओं के खिलाफ होती है।

इहसान

'इहसान' का अर्थ कुरान के अनुसार अच्छे काम करना और बुरे कामों से बचना है। सबसे श्रेष्ठ काम 'इल्म' (ज्ञान) और 'अमल' (क्रिया) द्वारा भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करना है। समस्त सामाजिक और वैयक्तिक जीवन इस एक लक्ष्य की ओर केन्द्रित है। राज्य का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था बनाए रखना है जिसमें मनुष्य सुविधापूर्वक उन सब कर्तव्यों का पालन कर सके जो कुरान में विहित हैं। विज्ञान—ज्योतिष और गणित—का अभिप्राय 'नमाज' और 'रोजे' के उपचार में सहायता करना है। जो विद्या इस साधना में सहायता नहीं पहुँचाती वह व्यर्थ है। थोथा तर्क और बाल की खाल निकालने वाला दर्शन बेकार है। 'इह्या-अल-उलूम-वल-दीन' (१. ३०) में अल-गज़ाली लिखते हैं—

"दैवी सत्ता के मर्म को खोजना व्यर्थ है। दार्शनिकों और देवतत्त्वविदों ने व्यर्थ ही यह परिश्रम किया है। इस रहस्य को सन्तों और पैगम्बरों को छोड़कर और कोई नहीं पा सका है। इसलिए मनुष्यों को इस रहस्य की खोज से हटकर धार्मिक विधि-विधान की ओर प्रवृत्त होना चाहिए···कितने व्यक्तियों ने इन विद्याओं का पारायण कर अपनी हानि की है ? यदि वे ऐसा न करते तो उनकी धर्म में कितनी निष्ठा होती ? बहुत से मनुष्यों को कुछ बातों में अपने अज्ञान से ही लाभ होता है।"

अतः हदीस का आदेश कि "ज्ञान की प्राप्ति (तलबुल इल्म) प्रत्येक मुसलमान स्त्री और पुरुष का कर्तव्य है" और "ज्ञान को प्राप्त करो यदि वह चीन में भी मिले", मनुष्य को बौद्धिक विज्ञानों से परे आध्यात्मिक आस्थाओं की ओर ले जाता है।

इस्लाम द्वारा मानव-एकता और नैतिकता की शिक्षा

इस्लाम भगवद्धर्म है (कुरान ३. १९)। भगवान् एक है, वही विश्व का स्रष्टा और नियामक है (कुरान ४३. ९)। वह स्रष्टा (ख़ालिक़), अधिपति (रब्ब) और स्वामी (मालिक) है। "पूर्व और पश्चिम सब उसके हैं, तुम जिधर भी मुड़ो, वहीं वह विद्यमान है, वह सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है" (कुरान २. ११५)। "यह भगवान् ही है जो सब वस्तुओं में अपने को समेटे हुए है" (कुरान ४. १२६)। "वह प्रथम और अन्तिम है, बाह्य और अभ्यन्तर है" (कुरान ५७. २)। भौतिकता से परे जगत् से अतीत होते हुए भी वह मनुष्य के बहुत निकट है। "हम उस से भी अधिक मनुष्य के पास हैं" (कुरान ५०. १५); "तीन व्यक्ति अलग से बातचीत नहीं कर सकते क्योंकि वह चौथा उनके साथ है, पाँच भी

नहीं, क्योंकि उनके साथ वह छठा है, वे जहाँ कहीं और जितने भी हों, वह उनके साथ है" (कुरान ५८. ८)। उसका छोटे से छोटा बन्दा उस तक पहुँच सकता है (कुरान २. १८६)। उसने सब मनुष्यों को एक इकाई से बनाया है। सब मनुष्यों की एक जाति है। बाद में वे आपस में बंट गए लेकिन उनका फर्ज है कि फिर से अपनी एकता कायम करें (कुरान १०. १९ ; २. २०८)। "वस्तुतः यह तुम मनुष्यों की जमाअत केवल एक भाईचारा है और मैं तुम्हारा स्वामी रक्षक हूँ" (कुरान, २१. ९२)। हदीस है कि "भगवान् की सब सृष्टि उसका परिवार है (अल-खल्कु-अयालु-अल्लाह) और वह भगवान् का सबसे अधिक प्रिय है जो उसकी सृष्टि के साथ सबसे ज़्यादा भलाई करता है"। सदाचार धर्म का सार है। हदीस कहती है "तुम मुझे छः बातों का विश्वास दिलाओ और मैं तुमसे स्वर्ग का वायदा करता हूँ : जब तुम बोलो तो सच बोलो, जब तुम कोई वायदा करो तो उसे पूरा करो, अमानत में पूरे उतरो, बदचलनी से बचो, किसी पर बुरी दृष्टि न डालो और अत्याचार न करो"। "वह मोमिन (भगवान् में विश्वास करने वाला) नहीं है, भगवान् की क़सम खाकर कहता हूँ, नहीं है, फिर भगवान की क़सम खाकर कहता हूँ, हरगिज़ नहीं है, जिसके बुरे कामों से उसके पड़ौसी दुखी हों"। "वह कतई मोमिन (भगवान् में विश्वास करने वाला) नहीं है जो स्वयं पेट भर खाता है, जबकि उसका पड़ौसी भूखा हो"। "जो स्वार्थ के लिए माल भरता है वह पापी (मलऊन) है"। "जो झूठा और विश्वासघाती है वह कभी मोमिन हो ही नहीं सकता"। इन कथनों से सिद्ध है कि इस्लाम उच्च आध्यात्मिकता, नैतिकता और मानव-एकता का समर्थक है।

मनुष्य की कर्म की स्वतन्त्रता

इस्लाम के अनुसार भगवान् ने मनुष्य के लाभ के लिए पैगम्बरों द्वारा दिव्य ज्ञान दिया है। पैगम्बर ऐसा आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिन पर मनुष्य चल सके। "जिस प्रकार पैगम्बर तुम्हारे लिए आदर्श हैं, इसी तरह तुम दूसरों के लिए आदर्श बन जाओ" (कुरान, २. १४३)। मनुष्य कर्म में स्वतन्त्र है और अपने कामों का जिम्मेदार है। "जो मुसीबतें तुम्हारे ऊपर हैं तुम्हारे हाथों आई हैं" (कुरान, ४२. २९)। "भगवान् उस समय तक मनुष्यों की हालत नहीं सुधार सकता जब तक वे पहिले अपने दिलों को नहीं बदलते" (कुरान, १३. १२)। अतः मनुष्य को स्वयं सतर्क, सक्रिय और जागरूक रहना है।

धर्म, समाज और मनुष्य का एकीकरण

सदाचार के लिए समाज आवश्यक है। अतः जैसा खलीफा उमर ने कहा

है "इस्लाम और जमइय्यत एक हैं"। इस्लाम इसके अनुसार भगवान में विश्वास करने वाले और इसके प्रति संपूर्ण समर्पण करने वाले नर-नारियों का समूह है। इसमें देश, जाति, भाषा और संस्कृति का भेद नहीं है। किन्तु इसमें धर्म और समाज का पूर्ण समन्वय है। धर्म-साधना के लिए समाज का त्याग आवश्यक नहीं है। समाज में रहते हुए और उसके नियमों का पालन करते हुए मनुष्य धर्मसाधना के परम लक्ष्य को पा सकता है। लौकिक कर्त्तव्य आध्यात्मिक अभ्युदय का अंग है और पारिवारिक जीवन से धार्मिक उन्नति होती है। अतः परिवार, समाज, राज्य, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, शिष्टाचार, धर्म और दर्शन सब एक सूत्र में बंध कर एक दूसरे के पूरक होते हैं। इस्लाम के अनुरूप जीवन एक अविभाज्य इकाई है, एक अखण्ड स्तम्भ है, एक अकाट्य अवयवी है जिसमें विभाजन, विश्लेषण और पृथक्-करण सम्भव नहीं हैं।

मनुष्य पर इस्लाम के प्रसार का दायित्व

इस्लाम का उद्देश्य भगवद्विश्वास को व्यापक बनाना है। अतः सार्वजनिक प्रचार-प्रसार उसके मुख्य साधन हैं जिससे विश्वासियों की वृद्धि और अविश्वासियों का ह्रास हो। इस दृष्टि से मनुष्य की दो ही जातियाँ हैं। मुसलमान और गैर मुसलमान। मुसलमानों की दुनियाँ 'दारूलइस्लाम' है और गैरमुसलमानों की दुनियाँ 'दारूलहर्ब'। 'दारूलइस्लाम' और 'दारूलहर्ब' का शाश्वत संघर्ष है। प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य 'दारूलइस्लाम' को बढ़ाना और 'दारूलहर्ब' को घटाना है। इसके लिए जब शान्ति से काम नहीं चलता तो युद्ध का आश्रय लेना पड़ता है। अतः धर्म-प्रसार के लिए युद्ध करना इस्लाम का मूलमंत्र है।

इस्लाम में नई प्रवृत्तियाँ

विश्व-भ्रातृत्व, सार्वजनिक समानता और सामाजिक वर्गहीनता के आदर्शों पर आधारित होते हुए भी मुहम्मद साहिब की मृत्यु के बाद इस्लामी समाज राजनीतिक दाँव-पेंच और जातिगत भेद-भाव में उलझ गया। खलीफा के प्रश्न को लेकर झगड़े-टंटे खड़े हो गये। सुन्नी और शिया का विरोध बढ़ गया। उमैय्या खलीफाओं के जमाने (६६१–७४९) में अरबों का जोर था और अरबेतर मुसलमानों पर, जिन्हें मवाली कहते थे, जजिया लगाया गया था। इन मवालियों के विद्रोह के कारण उमैय्यों के स्थान पर अब्बासी खलीफाओं का शासन शुरू हुआ। इस युग में अरब पिछड़े। शुऊबिया विचारधारा के लोगों ने सब मुसलमानों की बराबरी का सिद्धान्त चलाया। मुतजिला सम्प्रदाय ने शिया सुन्नी का झगड़ा मुकाना चाहा। हारुनुलरशीद (७८६–८०९) और अल-मामून (८१३–८३३) जब खलीफा थे तब

स्वतंत्र-चिन्तन ने जड़ें जमाईं। ज्ञान, विज्ञान, दर्शन और साहित्य उन्नति के शिखर पर पहुँचे। अल-राजी (मृ० ९३२) ने सिद्ध किया कि बुद्धि-सम्मत दर्शन ही शुद्ध मुक्ति-मार्ग है। किन्तु अल-मुतवक्किल की खिलाफत (८४७–८६१) में यह विकास रुक गया और कट्टरता उभर आई। इधर ऊंचे वर्गों के शोषण से तंग आकर मंझले और छोटे वर्गों के लोग उठ खड़े हुए। ईरान के खुर्रमिया और रावन्दिया आन्दोलनों के अलावा ईराक में जंज नामक दासों का विद्रोह और बहरीन में करमतियों या इस्माइलियों की बगावत भभक उठी। इन्होंने साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज के नव-निर्माण का प्रयास किया। उधर सूफियों ने तात्कालिक विचारों के विरुद्ध आवाज उठाकर प्रचलित व्यवस्था को अहिंसात्मक चुनौती दी।

सूफीमत का विकास

'सूफी' शब्द 'सूफ' (ऊन) से निकला है। शामी जगत् में ऊन का लबादा सरल जीवन और भगवत्प्रेम का प्रतीक माना जाता था। अतः उसे पहनने वाले 'सूफी' कहलाते थे। यह शब्द सबसे पहिले ८१६ के करीब शाम के निवासी अबू-हाशिम के लिए प्रयुक्त हुआ। किन्तु पचास वर्ष के भीतर ही यह सारे ईराक में फैल गया और बगदाद सूफीमत का केन्द्र बन गया। नवीं सदी के अन्त तक सूफी केवल शान्तिप्रिय जीवन, दैनिक तपश्चर्या, वैयक्तिक भगवत्प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति को धर्म-साधना का सोपान मानते रहे और बाहरी उपचार, प्रदर्शन और पाखण्ड की आलोचना करते रहे। किन्तु नवीं सदी के अन्त और दसवीं सदी के शुरू में इसमें अद्वैतवादी विचारों का आविर्भाव हुआ। विस्ताम के निवासी अबू-यज़ीद (मृ० ८७५), बगदाद के निवासी जुवैद (मृ० ९१०) मंसूर-अल-हल्लाज़ (मृ० ९२२) ने दावा किया कि सत्य एक है और जो उस तक पहुँच जाता है वह उस में विलीन होकर तद्रूप होजाता है। कहा जाता है कि मंसूर अपनी यात्राओं के दौरान में भारत भी आए और शायद योगियों से मिले। हो सकता है उनके विचारों पर भारतीय अद्वैत-दर्शन की छाप हो। किन्तु उनके सिद्धान्त इस्लाम के मानने वालों को नहीं भाए और उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। बाद में शेख मुहिय्युद्दीन-इब्नुल-अरबी (११६५–१२४०) ने इस सिद्धान्त को दार्शनिक रूप दिया और फारसी कवि ईराकी, किरमानी आदि ने इसे कविता का बाना पहनाया। ग्यारहवीं सदी के अन्त का जमाना इस्लामी दुनिया के लिए बड़ा नाजुक था। इसमें इस्लाम के दो भागों में बंट जाने का खतरा था। लेकिन अल-गजाली (१०५९–११११) ने सुन्नत की परम्परा और सूफीमत की प्रवृत्ति का गठजोड़ कर दिया। उनका मत था कि मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अद्वैत की अनुभूति (वहदत-उल-वुजूद) तक पहुँच जाता है, किन्तु यह एक आभास मात्र होता है, क्योंकि इसके बाद वह एक ऐसे दर्जे पर पहुँचता है जहाँ तर्क, भाषा और व्यंजना समाप्त हो जाते हैं। केवल

पैगम्बरों को इसका साक्षात्कार होता है, जिसके आधार पर वे अपने विधि-विधान बनाते हैं, जो मनुष्य को सही रास्ते पर ले जाते हैं। सनाई (मृ० ११५० से कुछ पहिले), फरीदुद्दीन अत्तार (मृ० १२२२) और जलालुद्दीन रूमी (१२०७-१२३१) पर सुन्नत और सूफीमत के इस समन्वय की गहरी छाप है।

तुर्कों का आधिपत्य

खलीफा अल-मुअतसिम (८४२-८४७) ने मवालियों को दबाने के लिए तुर्की गुलामों के दस्ते भर्ती किए थे। तब से इस्लामी दुनिया पर तुर्कों का प्रभाव बढ़ने लगा। ग्यारहवीं सदी से सलजूकी तुर्कों ने अफगानिस्तान से रोम सागर तक एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया और उसमें सामन्ती व्यवस्था चालू की। ये तुर्क इस्लामी दुनिया के लिए विदेशी थे। इन्हें सहारे की जरूरत थी। उधर ऊंचे दरजे के रूढ़िवादी मुसलमान छोटे वर्गों द्वारा चलाए गये नए फिरकों से तंग आए हुए थे। उन्हें मजबूत शासन की हिमायत की तलाश थी। इस तरह सुन्नी मुसलमानों और सलजूकी तुर्कों का मेल हो गया। सुन्नियों ने सलजूकों को वैध बताया और सलजूकों ने सुन्नत को सद्धर्म घोषित किया। फलतः इस युग के प्रसिद्ध विचारक निजामुल्मुल्क ने लिखा कि "राज्य और धर्म दो भाइयों के समान हैं" (ममलिकत व दीन हमचू दो बिरादर अन्द)। इस गठबन्धन से इस्लाम में कट्टरता का जोर बढ़ गया, वह सामन्ती व्यवस्था का अनुयायी हो गया और तुर्की साम्राज्यशाही का उपकरण मात्र बन गया। फलतः इस पर अन्धेरे का वह पर्दा पड़ गया जिसे मध्यकाल का लक्षण बताया जाता है। इस हालत में इस्लाम भारत में फैला।

इस्लाम और भारत का प्रथम सम्पर्क

इस्लाम और भारत का सम्पर्क सबसे पहिले अरब सागर के व्यापारी मार्गों द्वारा हुआ। लंका, मालाबार और काठियावाड़ के समुद्र-तटों पर मुसलमान व्यापारी आने-जाने और बसने लगे। ६३७ ई० में अरबों का एक जहाज़ी बेड़ा बम्बई के निकट थाना में उतरा। इसके बाद भडौंच, दाबुल और केलात में और बेड़े आए। ७१२ ई० में मुहम्मद-बिन-क़ासिम ने सिंध-विजय की और फिर मुसलमानों ने मुल्तान पर कब्ज़ा किया। सिंध के मुस्लिम शासन में हिन्दुओं को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता थी। इसी प्रकार खम्बात और गुजरात के हिन्दू शासक इस्लाम का आदर करते थे।

सिन्ध से मुसलमानों ने भारत के अन्य भागों पर हमले शुरू किए लेकिन ७३८ ई० में नवसारी के पास चालुक्य सेनापति पुलकेशी अवनिजनाश्रय और इसके बाद उज्जैन के निकट प्रतिहार नरेश नागभट ने उन्हें करारी मार दी और उनके

सब प्रयत्न विफल कर दिए। इस रास्ते से मुसलमानों को कोई सफलता न मिल सकी।

तेरहवीं सदी में उत्तरी भारत पर तुर्क मुसलमानों का अधिकार

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मुसलमानों ने काबुल और ज़ाबुल पर सख्त दबाव डाला लेकिन कई सदियों तक उन्होंने बड़ी बहादुरी से अपनी रक्षा की। दसवीं सदी के अन्त में महमूद गजनवी ने शाही राज्य को समाप्त कर लाहौर तक का क्षेत्र अपनी सल्तनत में मिला लिया, किन्तु दो सौ वर्ष तक शेष भारत का कुछ न बिगड़ सका। बारहवीं सदी के अन्त में शहाबुद्दीन ग़ौरी ने पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द्र गाहड़वाल को हराकर उत्तरी भारत पर अधिकार किया और २४ जून १२०६ ई० को सबसे पहिला मुस्लिम शासक दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसके कुछ वर्ष बाद मध्य-एशिया में मंगोलों की मार-धाड़ शुरू हो गई और वहाँ से मुस्लिम विद्वान्, सूफी, सन्त आदि काफी संख्या में भारत आने लगे। अतः भारत मुसलमानों का अच्छा अड्डा बन गया और यहाँ इस्लाम का काफी प्रसार हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि मुसलमानों के आगमन से उत्तरी भारत में नागरिक और आर्थिक क्रांति हुई जिससे कारीगरों और दस्तकारों को बढ़ावा मिला और उद्योग धंधों की उन्नति हुई। उनकी धारणा है कि शहरों के रहने वाले उन लोगों ने जो दस्तकारी में लगे थे मुसलमानों का स्वागत किया और उनके धर्म को स्वीकार कर अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु इस मत के लिये कोई साक्ष्य नहीं मिलता और यह पता नहीं चलता कि हिन्दू शासन में दस्तकारों को क्या कमी थी जो मुसलमानों ने पूरी की। एक दूसरा मत यह है कि सूफियों के शान्तिपूर्ण प्रचार और आदर्श जीवन से आकृष्ट होकर बहुत से हिन्दुओं ने इस्लाम स्वीकार किया। लेकिन प्राचीन सूफी वृत्तों—मलफ़ूज़ात और मकतूबात में इन लोगों द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाए जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है उनकी पवित्रता से प्रभावित होकर कुछ लोग मुसलमान बन गए हों लेकिन बाद के आख्यानों में इस प्रकार की घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया गया है। वास्तव में भारत में इस्लाम का प्रचार कुछ ज़ोर-जब्र से हुआ, कुछ राज्याश्रय के लोभ से हुआ, कुछ प्रचारकों के प्रचार से हुआ। चौदहवीं सदी में सैय्यद-मुहम्मद-बिन-नासिरुद्दीन-जाफर-मक्की-अल-हुसैनी ने लिखा कि लोग पाँच कारणों से मुसलमान बने : (१) मौत के डर से, (२) अपने परिवारों को गुलाम बनाए जाने से बचाने के लिए, (३) इनाम, भत्ते और वृत्ति (मवाजिब) और लूट के माल (ग़नैम) में शरीक होने के लिए, (४) मुसलमानों के प्रचार के फलस्वरूप, और (५) अन्ध-विश्वास के कारण; जैसा कि उस काल के लेखकों ने लिखा, इन लोगों में गहराई नहीं थी और ये 'आख़िरत' को नहीं समझते थे। बाहर से आए हुए मुसलमान इन्हें घटिया मानते थे। इसलिए सल्तनत काल में तुर्क

मुसलमान भारतीय मुसलमानों पर हावी थे। ग़ियासुद्दीन बलबन का विचार था कि सल्तनत पर तुर्कों का एकाधिकार है। वे कहा करते थे कि चूंकि मैं अफरासियाब का वंशज हूँ इसलिए मैं कभी किसी कमज़ात आदमी को ऊँचे पद पर नहीं पहुँचने दूंगा; जब मैं किसी कमज़ात आदमी को देख लेता हूँ तो मेरा खून खौलने लगता है।" मुहम्मद तुग़लक ने विदेशियों को विशेष सम्मान दिया जैसा कि इब्न-बतूता के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है। दक्षिण में बहमनी राज्य में विदेशी मुसलमान और भारतीय मुसलमान का विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया, जैसा कि महमूद गावान के चरित्र से प्रतीत होता है। कई बार इस विरोध ने उग्र रूप धारण किया। उदाहरण के लिए १३२० ई० की खुसरो खाँ की क्रांति या १३३९ ई० का एनुल्मुल्क मुल्तानी का विद्रोह इस विरोध की तीव्रता को प्रकट करते हैं। असल में इसे समझे बिना मध्यकाल के इतिहास की बहुत सी गुत्थियों को सुलझाना सम्भव नहीं है।

भारत के मुसलमान

भारत में इस्लाम के योग को समझने के लिए चार प्रकार के मुसलमानों का अध्ययन करना ज़रूरी है: (१) प्रशासक, दरबारी और राजकीय कर्मचारी, (२) मुल्ला, मौलवी, विद्वान और साहित्यिक, (३) सूफी, सन्त, महात्मा और संन्यासी और (४) साधारण जनता, कारीगर, दस्तकार आदि।

प्रशासक, दरबारी और राजकर्मचारी

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रशासक वर्ग में तुर्कों की बहुतायत थी। इस वर्ग में तीन स्तर थे: खान, अमीर और मलिक। ये सब खिताई, क़ाराखिताई, किपचक, गर्जी या इलबरी कबीलों के तुर्क थे। इन्हें जागीरें (इक़ता) मिला हुई थीं और उसके एवज में ये फौज रखते और राजकाज करते थे। राजाओं को गद्दी दिलाने में इनका पूरा हाथ था। अक्सर इनमें से ज्यादा चलते-पुर्ज़े लोग खुद गद्दी हथियाने की तरकीबें सोचा करते थे। वे हमेशा शक्ति-संचय के दाँव-पेंच भिड़ाते या जुए, शराब और अय्याशी में वक्त बिताते थे। नाच-गाना, हंसी-मज़ाक, शेरोशायरी उनके खास शुग़ल थे। धर्म उनके लिए सिर्फ नाम के लिए या ताकत हासिल करने का साधन था। गद्दी या ओहदे के लिए वे बड़े से बड़े गुनाह से नहीं हिचकते थे। मौका-परस्ती, विश्वासघात और कृत्रिमता उनके लिए साधारण सी बातें थीं। इनके चरित्र को समझने के लिए हज़रत अमीर खुसरो (१२५३–१३२५ ई०) पर दृष्टि डालना काफी है। वे अपने ज़माने के सबसे क़ाबिल और मंजे हुए दरबारी थे। उन्होंने छः सुल्तानों का ज़माना देखा और चार क्रान्तियाँ उनके सामने हुईं। जब उनका आश्रय-दाता क़त्ल कर दिया जाता और क़ातिल गद्दी पर आ जाता तो वे फौरन अपनी

कविता का रुख बदल कर उसका गुणगान करने लगते। जब कुतबुद्दीन मुबारक ने खिज्र खाँ को मार कर गद्दी सम्भाली तो उन्होंने उसकी तारीफों के पुल बाँधने शुरू कर दिए। जैसे उनकी प्रशस्तियों और कसीदों में सचाई नहीं है वैसे ही हिन्दुओं के प्रति उनके रुख में साफ़दिली की कमी है। वे 'नूह सिपहर' (नव आकाश) के तीसरे पहर में हिन्दुस्तान की बेहद तारीफ करते हैं और हिन्दुओं के ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति को बहुत अच्छा बताते हैं किन्तु 'खज़ाइन-अल-फुतूह' में वे उन्हें काफिर और दूषित कहते हैं और उनका सफाया करना राज्य का धर्म सिद्ध करते हैं। इस प्रकार उनमें कहीं भी एकरूपता दिखाई नहीं देती। यह उनका ही नहीं उस युग के बहुत से लोगों का हाल है। अतः बहुत से विद्वान और सन्त उन्हें बुरी निगाह से देखते थे।

मुल्ला, मौलवी, विद्वान और साहित्यिक

दूसरा वर्ग उलमा और मौलवियों का था। ये लोग पढ़े-लिखे थे और काजी (न्यायाधीश), सद्र-उस्-सुदूर (मुख्य न्यायाधीश), मुतवल्ली (दान की सम्पत्तियों के प्रबन्धक), मदरिस (अध्यापक), इमाम (मस्जिद में नमाज पढ़ाने वाले), खतीब (खुतवा पढ़ने वाले) आदि का काम करते थे। इनमें दो वर्ग थे—उलमा-ए-आखिरत (अन्त की बात सोचने वाले विद्वान्) और उलमा-ए-दुनिया (दुनियादारी में फँसे हुए विद्वान)। इनमें बहुत से इतने साहसी थे कि सुल्तान इलेतमिश (इसे कुछ लोग इलतुतमिश भी कहते हैं) से यह पूछने का साहस रखते थे कि आपके पास इस बात का क्या प्रमाण है कि आप गुलामी से स्वतंत्र कर दिए गए हैं, लेकिन अधिकतर ऐसे थे जो रज़िया को राज्य का उत्तराधिकार देने के समय चुप्पी साधे हुए थे या कैकुबाद के रोजे न रखने और नमाज़ न पढ़ने पर भी आँखें मूँद सकते थे। आम तौर से ये शास्त्र की लकीर के फकीर थे और नई बात (बिदत) को अपराध समझते थे। इनका दृष्टिकोण मुहम्मद मुजीर वाजिद अदीब की 'मिफताह-अल-जिनान' (१३५६), अब्दुल हक मुहद्दिस देहलवी (१५५१-१६४२) की 'तकमील-अल-ईमान', इब्न-उमर-मिहराबी की 'हुज्जत-अल-हिन्द' (जहाँगीर का काल) आदि ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता जिनमें शास्त्र (शरीयत) के अनुसार व्रत, उपासना, स्नान, यात्रा, दान और अच्छे चालचलन का उपदेश दिया गया है। राज्य के विषय में इनकी नीति का अन्दाजा सैय्यद नूरुद्दीन मुबारक गज़नवी द्वारा इलेतमिश के दिए गए इस चार सूत्री उपदेश से हो सकता है कि कुफ्र और काफिरों को बिल्कुल नष्ट किया जाए और अगर ऐसा न किया जा सके तो उन्हें बदनाम, बेइज्जत और भयभीत किया जाए जिससे वे चैन से न रह सकें, मुसलमानों की शरीयत के अनुसार चलने पर मजबूर किया जाए, जो बातें उसमें विहित हैं उनका आचरण किया जाए और जो अवैध हैं उन्हें बिल्कुल बन्द किया जाए, और पाप और दुराचार से बचा जाए और पूरी तरह न्याय किया जाए। ऐसी ही बातें शेख अहमद

सरहिन्दी द्वारा जहाँगीर और अन्य व्यक्तियों को लिखे गए पत्रों में कही गई हैं। लेकिन राजाओं के लिए इन बातों को मानना और इनके अनुसार चलना सम्भव न था।

सूफी, सन्त, महात्मा और सन्यासी

तीसरा वर्ग सूफियों और सन्तों का था। इनमें बहुत से साधु-संन्यासी थे लेकिन अधिकतर गृहस्थी थे। इनके बारे में पीछे कहा जा चुका है कि इनमें दो मत थे: 'वह्दत-अल-वुजूद' (समस्त जगत एक अद्वैत सत्य है) और 'वहदत-अल-शुहूद' (जगत् स्वयं भगवान् (हक़) नहीं है बल्कि उसके नाम (अस्मा) और गुणों (सिफात) का प्रतिबिम्ब है)। मध्यकाल में इन मतों के मानने वालों में बड़ी गर्मागर्म बहस चलती थी। पहिले मत के अनुयायी मुहिय्युद्दीन इब्नुल अरबी के 'फ़ुसूस-अल-हिकाम' का सहारा लेते थे तो दूसरे के मानने वाले अलाउद्दौला सिमनानी (१२६१—१३३६) की 'अल-उर्वालि अहल-अल-खलवा' पर चलते थे। यहाँ इनका संक्षिप्त सा परिचय काफी है।

सूफी भगवान् को अद्वितीय मानते हैं। वह सत्य (हक), शिव (खैर) और सुन्दर (जमाल) है। सारा जगत् उसकी अभिव्यक्ति (जलवा) है। इस अभिव्यक्ति में सत् और असत् का योग हो जाता है। सत और असत् की पारस्परिकता से भूत जगत् का विकास होता है। मनुष्य भगवत्प्रकृति का रूप होते हुए भी अपने को अभिमानवश और अज्ञान के कारण उससे स्वतंत्र समझता है। इस अहंकार का नाश 'फना' (निर्वाण) या 'नीस्त' (अभाव) कहलाता है। इस 'फना' में वास्तविक 'बक़ा' (अस्तित्व) और 'नीस्त' में वास्तविक 'हस्ती' (भाव) है। किन्तु अहंकार को बाहरी धार्मिक उपचारों से नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए प्रेम की आकुलता और भावना का अतिरेक चाहिए। पार्थिव प्रेम सदा दिव्य प्रेम का उपकरण सिद्ध होता है यदि इसमें आसक्ति न हो। इस भाव के अनेक रूप हैं, जैसे 'मुहब्बत' (प्रेम), 'शौक' (इच्छा), 'गैरत' (आत्महीनता), 'कुर्ब' (निकटता), 'हया' (लज्जा), 'उन्स-ओ-हैबत' (स्नेह और भय), 'कब्ज़-ओ-बस्त' (संकोच और प्रसार), 'फना-ओ-बका' (निर्वाण और अस्तित्व), 'इत्तिसाल' (सायुज्य) आदि।

जो 'वहदल-अल-वुजूद' में विश्वास करते हैं वे भगवान के साथ एकाकार होने का लक्ष्य लेकर चलते हैं और जो 'वहदत-अल-शुहूद' को मानते हैं वे भगवान को अज्ञेय समझकर कभी उसके साथ एक होने की बात नहीं कहते। किन्तु ये चर्चाएँ सैद्धान्तिक हैं। व्यवहार में सभी सूफी शास्त्रों के अनुकूल आचरण पर ज़ोर देते हैं। अतः निज़ामुद्दीन औलिया का कहना है कि जो एक बार जुमे की नमाज नहीं पढ़ेगा उसके दिल में काला दाग हो जाएगा। किन्तु नैतिक आचार को यथेष्ट प्रमुखता देते हैं 'तोबाह' (पश्चात्ताप), 'वरा' (संसार से बचना), 'जुहद' (पवित्रता), 'फक़' (निर्धनता),

'सब्र' (धैर्य), 'शुक्र' (कृतज्ञता), 'खौफ' (भय), 'रज़ा' (आशा), 'तवक्कुल' (संतोष), और 'रिजा' (समर्पण) इन दश भूमियों (मक़ामात) की साधना इनके मत से आवश्यक है। सबका भला चाहना उनके लिए जरूरी है। वे संसार को बुराई और पाप का घर मानते हैं और इससे दूर रहना कर्तव्य समझते हैं। कुछ, जैसे चिश्ती और शत्तारी सम्प्रदायों के सन्त, तो इस मान्यता पर अमल करते थे, और कुछ, जैसे सुहरवर्दी और नक्शबन्दी सम्प्रदायों के अनुयायी, इनकी सिर्फ जबानी चर्चा करते थे और व्यवहार में बड़े ठाठ-बाट से रहते थे।

सूफी गुरु-शिष्य परम्परा में पूरा विश्वास रखते थे और इस पर आधारित इनका विशिष्ट संगठन था। हर 'पीर' (गुरु) की अपनी 'विलायत' (प्रदेश) होती थी। उसके नीचे क्रमशः तीन 'नुक्बा', चार 'औताद', सात 'अबरार', चालीस 'अब्दाल' और तीन सौ 'अख्यार' होते थे। सूफी 'खानका' में रहते थे जिसमें एक 'जमाअत-खाना' (बड़ा कमरा) होता था। उसमें सब आने जाने वाले सन्त अपनी-अपनी गुदड़ी बिछाकर सोते बैठते थे। सबके भोजन की लंगर में व्यवस्था थी। ये लंगर खैरात पर चलते थे। चिश्ती सन्तों की खानकाएँ सीधी-सादी होती थीं लेकिन सुहरवर्दी सूफियों की सजी-धजी। सूफी करामातों के लिए प्रसिद्ध थे। लोगों की भीड़ उनके पास गंडे-तावीज लेने के लिए जमा रहती थी। कभी-कभी ये लोगों को उनके घरेलू मामलों में भी सलाह दे देते थे।

सूफियों के बहुत से सम्प्रदाय (सिलसिले) थे। शेखअली हुजवीरी के अनुसार इनकी संख्या १२ थी और अबुलफज़ल के अनुसार १४। इनमें से चिश्ती, सुहरवर्दी, कादिरी, शत्तारी और नक्शबन्दी सम्प्रदाय भारत में अधिक फले-फूले। आमतौर से चिश्ती और शत्तारी शान्तिप्रिय और संन्यासपरायण और उदार थे और सुहरवर्दी और नक्शबन्दी संकीर्ण, शस्त्र-बद्ध और कट्टर थे। चिश्ती राज्य से कोई संबंध नहीं रखना चाहते थे, किन्तु सुहरवर्दी जागीरें स्वीकार करते और शान-शौकत से रहते थे। लेकिन शास्त्र की प्रामाणिकता के विषय में इनमें कोई खास मतभेद न था।

मेहदवी और मुजाहिदी

भारतीय मुसलमानों में 'मेहदवी और 'मुजाहिदी' सम्प्रदाय भी चले जिन्होंने शास्त्रों के अनुकूल आचरण करने पर बहुत बल दिया। सैय्यद मुहम्मद जौनपुरी (१४५३–१५०५) ने अपने को मेहदी (त्राता) घोषित कर इस्लाम के पुनरुज्जीवन का प्रयास किया। उन्होंने मुसलमानों की शरीयत के अनुसार चलने का आदेश दिया और मुसलिम कानून के चारों सम्प्रदायों से ऊपर उठने को कहा। जयपुर, गुजरात और दक्षिण में अभी तक उनके अनुयायी पाए जाते हैं। मुजाहिदी सम्प्रदाय शेख अहमद सरहिन्दी (१५६४–१६२४) से शुरू होता है। उन्होंने अकबर की समन्वय नीति का

विरोध किया और जहाँगीर को शरीयत के अनुसार चलने और काफिरों का दमन करने की प्रेरणा दी जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। बाद में शाह वली उल्लाह (१७०३–१७६२) ने सुन्नत का समर्थन किया और इब्नुल अरबी और शेख अहमद के सिद्धान्तों में एकता स्थापित की। इन्होंने मराठों का जोर बढ़ता देखकर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण की भी हिमायत का।

साधारण जनता में हिन्दू और मुस्लिम प्रथाओं का समन्वय

जहाँ पढ़े-लिखे मुल्ला-मौलवी और सूफी-सन्त अपनी-अपनी बात कह रहे थे और जो कुछ भारत से बाहर के मुस्लिम विचारक पहिले से कह आए थे उसकी आवृत्ति कर रहे थे, जिसमें बहुत कम नवीनता थी, वहाँ साधारण स्तर के लोग शान्तिपूर्वक अपना काम-धन्धा करते और उनके द्वारा रोटी कमाकर पेट भरते थे। जब कभी मुल्ला-मौलवी या कट्टर कर्मचारी उन्हें उकसाते तो वे दंगे-फसाद पर उतारू हो जाते, लेकिन आमतौर से वे पास-पड़ौस के लोगों से मिल-जुलकर रहते थे। उनमें गुरुपूजा, सन्त-निष्ठा स्थानीय देवी-देवताओं की मन्नत-कबूलियत आदि प्रचलित थे। फलतः पिछली सदी तक उनमें बहुत सी ऐसी बातें मिलती रही हैं जो इस्लामी शरीयत के विपरीत हैं लेकिन आस-पास के लोगों में पाई जाती हैं। उत्तरी सीमा प्रान्त, कश्मीर, पंजाब और करनाल जिले के मुसलमान पुराने ग्राम देवताओं की पूजा करते थे। हरियाणा, अलवर, भरतपुर के मेव और मीना हिन्दू नामों को 'खान' के साथ जोड़ते और, दशहरा, दीवाली और जन्माष्टमी मनाते और कुआं खोदने से पहिले चबूतरा बनाकर हनुमान को अर्पित करते थे। उनमें सगोत्र विवाह वर्जित था और लड़कियों को उत्तराधिकार प्राप्त नहीं था। बून्दी के मीना भैरों को पूजते थे और जौडा के मुसलमान विवाहों में हिन्दू रस्में करते थे। अजमेर के हुसैनी ब्राह्मण अथर्ववेद को मानते और हुसैन के नाम का जप करते और रमजान और एकादशी का व्रत करते थे। आगरा के मालकाना राजपूत, इमामशाही सम्प्रदाय के काका और सादुल्ला सम्प्रदाय के लोग अथर्ववेद के साथ-साथ निष्कलंक के नाम का स्मरण करते थे। सिन्ध के मुसलमानों में प्राचीन काल से चली आ रही सिन्धु नदी की पूजा दरिया-पंथ के रूप में जारी है। पंजभाई सम्प्रदाय के इस्माइली खोजा हजरत अली को विष्णु का दसवाँ अवतार मानते थे और पीरई लोग जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों पर हिन्दू रीति-रिवाज मानते थे। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में गाज़ी मियां आदि सन्तों की पूजा का काफी रिवाज था। पूर्निया जिले के देहात में मुसलमान अल्लाह और काली दोनों के नाम लेकर पूजा करते थे। उनकी शादी-विवाह की रस्में भगवती के मन्दिर में होती थीं। चौबीस परगनों की बड़ारात और बशीरहाट तहसीलों में मुसलमान मछुए और लकड़हारे

मोबराह (मुबारक) गाजी को पूजते और बस्तू देवता (पृथ्वी माता) को मनाते थे। इन्दौर के इलाके में मुसलमान पटेल और मिरधे हिन्दू नाम धारण करते, हिन्दुओं की पोशाक पहनते और भवानी देवी को मानते थे। बुलदाना के मुसलमान देशमुख और देशपाण्डे गुप्त रूप से ब्राह्मणों को बुलाकर पुराने देवी-देवताओं की पूजा कराते थे। धार्मिक मान्यताओं के अलावा सामाजिक व्यवस्था में भी भारत के मुसलमान हिन्दुओं की तरह ही जातियों में बंटे हैं, करीब-करीब हर व्यवसाय एक जाति बन गया है, और लोग अपनी-अपनी जाति में ही रोटी-बेटी का रिश्ता रखते हैं। इन थोड़े से तथ्यों से स्पष्ट है कि छोटे श्रेणी के कारोबारी मुसलमान हिन्दुओं से मेल-मिलाप में आपत्ति नहीं करते। किन्तु ऐसा होते हुए भी हिन्दू और मुसलमानों में पूरी तरह एका नहीं हो सका। वे अपने-अपने रीति-रिवाजों से इस तरह बँधे रहे कि उनमें पूरी तरह भावनाओं का सामंजस्य न हो पाया। समय-समय पर उनमें टकराव होते रहे और अन्त में धर्म और जाति के नाम पर मुसलमानों ने पाकिस्तान बनवाया। पाकिस्तान बनने के बाद भी भारत में मुसलमानों की काफी संख्या है। भारतीय संविधान उन्हें पूर्ण सुरक्षा और विचारों की स्वतन्त्रता देता है। आधुनिकता की प्रवृत्ति उन्हें और उनके पड़ौसियों को एकता की ओर ले जा रही है। किन्तु वे परम्पराओं के चक्र से बचते हैं या नहीं इसका उत्तर आने वाला युग ही दे सकेगा।

दसवां अध्याय

मध्य काल का भक्ति-आन्दोलन

इस्लाम की चुनौती

१२०६ ई० में दिल्ली में मुस्लिम सल्तनत की स्थापना ने भारतीय धर्म और संस्कृति के बहुत से मूल्यों और मान्यताओं को कड़ी चुनौती दी। मन्दिरों के ध्वंस, गो-ब्राह्मणों की हत्या और बाल-वृद्ध-नारियों पर किए गये अत्याचारों ने लोक-मानस को आलोड़ित कर उसकी धार्मिक अवस्था पर प्रबल प्रहार किया। १३०० ई० में उलूग़ खाँ और नुसरतखाँ के गुजरात के आक्रमण में जब सोमनाथ के मन्दिर को तोड़कर लिंग के टुकड़ों को गाड़ी में लादकर दिल्ली की ओर चलता किया गया तो 'कान्हडदेप्रबन्ध' के रचयिता कवि पद्मनाभ ने क्रोध से विह्वल होकर शिव को पुकारा 'ओ शत्रुनाशक रुद्र ! तेरा भयंकर त्रिशूल कहाँ चला गया है'। किन्तु बिखरे भग्नावशेषों और अविरल रक्त-धाराओं ने निस्सहायता और असामर्थ्य प्रकट कर निराशात्मक उत्तर दिया। इसी प्रकार योगियों, तांत्रिकों, सहजयानियों और नाथ-पंथियों की ऋद्धि-सिद्धियाँ, टोने-टोटके और मुद्रा-मण्डल व्यर्थ सिद्ध हुए और जनता की समस्या का समाधान न कर सके। निराशा के इन घुमड़ते हुए बादलों में भक्ति का आन्दोलन बिजली की तरह कौंध गया। धर्म और संस्कृति की समस्त सृजनात्मक शक्ति इसके माध्यम से विकसित और प्रसारित हुई और देश के कोने-कोने में नवचेतना का स्फुरण और स्पन्दन हो गया।

दक्षिण भारत में भक्ति की परम्परा और रामानुज का आन्दोलन

यद्यपि भक्ति का आन्दोलन मुस्लिम प्रशासन से उत्पन्न नवीन वातावरण की चुनौती की प्रतिक्रिया थी, इसके प्रायः सभी स्रोत देशी थे। भक्ति धर्म का अभिन्न अंग है। वेदों और उपनिषदों में भक्ति के तत्त्व मिलते हैं। पाणिनि ने वासुदेव और अर्जुन तथा महाराज अथवा कुबेर की भक्ति का उल्लेख किया है। गीता में पत्र, पुष्प, फल और जल से भक्तिपूर्वक भगवान की आराधना का विधान है और गण्डव्यूह आदि महायान सूत्रों में धूप-दीप-नैवेद्य द्वारा बोधिसत्त्वों की अर्चना का उपदेश है। शैव, भागवत और महायान धर्मों की चर्चा करते हुए हमने इस विषय की यथेष्ट चर्चा की है। भक्ति की धारा दक्षिणी भारत में ईसवी संवत्

के आरम्भ से ही प्रवाहित रही। दूसरी सदी से आलवार सन्तों के उल्लेख मिलने लगते हैं। सातवीं और नवीं सदियों के बीच के काल में इनका मत बहुत प्रबल और व्यापक हो गया। इन सन्तों में नम्भालवार के गीत प्रेम और भक्ति के अक्षय कोश हैं। इस परम्परा में आन्दाल नामक स्त्री ने यशोदा की भूमिका द्वारा वात्सल्य प्रेम की पयस्विनी प्रवाहित की। १००० ई० के लगभग नाथमुनि ने इन सन्तों के चार हज़ार भजनों का संग्रह किया। इनके पौत्र यमुनाचार्य के शिष्य रामानुज (१०३७–११३७) ने शंकर के मायावाद का खण्डन कर विशिष्टाद्वैत के दर्शन का प्रतिपादन किया और इसके प्रचार के लिए श्री सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने समस्त भारत की यात्रा की और श्रीरंगम् लौटने पर दक्षिणी भारत को अपने मत के प्रचार की दृष्टि से ७४ प्रदेशों में बाँटकर उनमें अपने आचार्य नियुक्त किए। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्होंने जातिवाद का निषेध किया और पिल्लै तथा उरंगविल्लीदास आदि अब्राह्मण शिष्यों को दीक्षा दी, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने जातिवाद का समर्थन किया। रामानुज के सम्प्रदाय के प्रसार से पतित जातियों की दशा कुछ सुधरी, रीति-रिवाज में भी कुछ परिवर्तन हुए, जैसे विवाह में होम और विधवा का मुण्डन आदि बन्द किए गए, और एक नएसे आचार का प्रचलन हुआ जिसे 'तेन कलाई' कहते हैं। इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त माध्वाचार्य के ब्राह्म-सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी के रुद्र-सम्प्रदाय और निम्बार्काचार्य के सनकादि-सम्प्रदाय ने मायावाद का विरोध किया, अवतारवाद का प्रतिपादन किया और परमात्मा और जीवात्मा की पृथकता सिद्ध की और इस प्रकार भक्ति परम्परा को दृढ़ किया।

गुरु रामानन्द और उनका सार्वभौम मानववाद

रामानुज की शिष्य-परम्परा में भक्ति आन्दोलन के महान् नेता गुरु रामानन्द (लगभग १३७०–१४४० ई०) हुए। अपने गुरु राघवानन्द के साथ जाति-पाँति, आचारोपचार एवं अनुशासन संबंधी विषयों पर मतभेद होने के कारण वे उनका मठ त्यागकर उत्तर भारत की ओर चले आए और बनारस में बस गए। वहाँ उन्होंने अपना स्वतन्त्र मत चलाया कि राम के भक्त बिना भेद-भाव के एक साथ खा-पी सकते हैं। भगवद्भक्त के लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है। परमेश्वर का एक गोत्र और परिवार है, अतः सभी भाई-भाई हैं और सबकी एक जाति है। इस सार्वभौम मानववाद पर आरूढ़ होकर रामानन्द ने समाज के सभी तत्त्वों को एकता के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास किया। उनके शिष्यों में सभी जातियों के लोग थे: भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द, श्री आनन्द ब्राह्मण थे, तो रैदास चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, सेना नाई,

सदना क़साई, पीपा राजपूत निचली जातियों के थे। भविष्य पुराण के अनुसार बहुत से मुसलमान बने हिन्दू भी उनकी शरण में पहुँच कर फिर अपने धर्म में लौट आए। उनके सम्प्रदाय में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर की श्रेणी मिली। पद्मावती और सुरसरी उनकी मुख्य शिष्याएँ थीं और गंगा नामक एक वेश्या ने भी उनसे दीक्षा ली। उनके शिष्य रैदास ने प्रसिद्ध भक्त-कवियित्री मीराबाई को दीक्षित किया। इस प्रकार रामानन्द ने जाति, वर्ग और यौन भेद से रहित तथा समानता और भ्रातृत्व पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया जिसमें मध्यकालीन सांस्कृतिक सृजनात्मकता की उच्चतम अभिव्यक्ति हुई।

कबीर और उनके विचार

रामानन्द के शिष्यों में कबीर (१३९८–१५१८ ई०) अग्रगण्य हैं। ये काशी के रहने वाले जुलाहे थे। इनका परिवार कुछ ही समय पहिले मुसलमान हुआ था, किन्तु उसमें योगमार्ग, सहजयानी और नाथपंथ के संस्कार सुरक्षित थे। गुरु रामानन्द की प्रेरणा से कबीर ने इन संस्कारों को नई सृजनात्मक प्रक्रिया का रूप दिया। उन्होंने लोक प्रचलित 'सहज', 'शून्य', 'माया', 'योग' आदि परिकल्पनाओं की नई नैतिक व्याख्या की। उनके मतानुसार ज्ञान और भक्ति से अन्तस्थल में रमे ब्रह्म की खोज और प्राप्ति ही 'सहज-समाधि' है। यह सर्वव्यापी पवन-रूप ब्रह्म 'शून्य' है, जिसका एक अंश जीव समदर्शिता के माध्यम से उसके साथ मिलने का प्रयास करता है जैसे वेगवती तरंगिणी समुद्र में विलीन होने के लिए अग्रसर होती है। इस प्रक्रिया में जो सांसारिक और ऐहिक तत्त्व बाधक होते हैं वे 'माया' हैं और मन के संयम द्वारा उससे बचने का उपाय 'योग' है। इस साधना के लिए बाह्य उपचारों की जरूरत नहीं है: आसन लगाना, आँखें मून्दना, डंडा-मुद्रा धारण करना, खप्पर, सिंगी, जगौटा आदि योगी का वेश ग्रहण करना, जप-तप और मंत्र-तंत्र में लीन रहना तथा घर-बार और काम-धन्धा छोड़कर मठों, अखाड़ों और सम्प्रदायों में शामिल होना सब बेकार हैं। मनुष्य के मन में ही आसन, समाधि, जप-तप, खप्पर, सिंगी सब कुछ है:

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात दिवस ना करई निद्रा॥
मन में आसन मन में रहना। मन का जप-तप मनसूँ कहना॥
मन में खपरा मन में सिंगी। अनहद बेन बजावे रंगी॥

अतः मन के संयम द्वारा इन्द्रियगत विषयों को जलाकर जब उसकी भस्म मनुष्य धारण करता है तो वह चरम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है:

पंज पंजारि भसम करि बंका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥

यह संयम गृहस्थ जीवन बिताते और अपना व्यवसाय करते और परिश्रम से जीविका कमाते हुए पूरी तरह सम्भव है। अतः कबीर खड्डी और ढ़रकी चलाते-चलाते ही

अपनी आध्यात्मिक साधना करते और सुन्दर गीतों में उसे मुखरित करते थे। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' जैसी रचना उनके आध्यात्मिक उत्थान और व्यावहारिक अध्यवसाय के अनुपम सामंजस्य को मुखरित करती है।

सन्तों का प्रेम दर्शन

कबीर आदि सन्तों के मतानुसार समस्त विश्व 'शब्द' (सबद) में परिबद्ध है। इस शब्द के दो पक्ष तान (सुरति) और लय (विरति) हैं। 'सुरति' और 'विरति' का योग असीम और सीमित के संयोग की प्रतीति है जिसके माध्यम से परमात्मा अपने आपको सृष्टितंत्र में अवतीर्ण और अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति और इससे निष्पन्न विश्व का विराट् आयोजन प्रेमगर्भित है। अतः सकल प्रकृति प्रेममयी है। पृथ्वी, जल, आकाश, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि प्रकृति के उपादान और भगवान् के प्रेम के रूप हैं। इस विश्व रूपी प्रेम-लीला में भगवान स्वतः ओत-प्रोत हैं। अर्थात् वह सबसे बड़ा प्रेमी है। उसके अनुरूप ही उसकी सृष्टि प्रेम से शराबोर है। मनुष्य प्रेम के कारण ही दिव्य है, अन्यथा एक राख की मुट्ठी मात्र है। जायसी के शब्दों में :

मानुस पेम भएउ बैकुँठी। नाँहि त काह छार एक मुँठी ॥

सन्त लोग ज्ञान के साथ-साथ इस प्रेम के बहुविध रूपों को प्रबुद्ध कर परम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। कबीर अपने को बालक और परमात्मा को माता कहते हैं :

हरि जननी मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा।
सुत अपराध करे दिन केते। जननी के चित रहे न तेते ॥

इस प्रकार उनके मतवाद में दिव्य कवित्व और असीम सरसता आ गई है।

सामाजिक संघर्ष की ज्वाला

इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कबीर की वाणी सामाजिक संघर्ष की ज्वाला है। वे शास्त्रीयता, शरीयत, प्रदर्शन, पाखण्ड और उपचार के शत्रु हैं। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को खरी-खरी सुनाई है और उनके धार्मिक आडम्बरों पर कठोर आघात किए हैं। उनकी दृष्टि में भगवान एक है अतः मानवता भी एक है और उसमें आचार और उपचार के आधार पर भेद करना भ्रान्ति है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के नाम पर मनुष्यों के बीच भेद-भाव की दीवारें खड़ा करना अक्षम्य अपराध है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप आचरण की स्वतन्त्रता है। एक मनुष्य का आचार उतना ही ठीक है जितना दूसरे का। इस विषय में अपना मत दूसरे पर बलात् लादना अनुचित है।

कबीर के पुत्र का नाम कमाल था। उनके मरने पर इन्होंने उनके नाम पर सम्प्रदाय स्थापित करने से इन्कार कर दिया। पर, अन्त में, सुरतगोपाल ने काशी में और धर्मदास ने मध्यप्रदेश में कबीर पंथ की स्थापना की।

दादू और उनके शिष्य

कमाल के शिष्य दादू (१५४४–१६०३ ई०) शुरू में दाऊद नाम के मुसलमान थे किन्तु उनका ज्ञान और कवित्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था। सम्राट् अकबर ने उनसे काफी दिनों तक धर्म-चर्चा की। उनके शिष्यों में सुन्दरदास, रज्जब, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें सुन्दरदास बड़े पण्डित और रज्जब अच्छे कवि थे। इसी परम्परा में आगे चलकर जगजीवनदास हुए, जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया।

सन्तमत की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

भक्ति आन्दोलन की उपरोक्त सन्त-शाखा की प्रधान प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं : (१) शास्त्र-सम्मत धर्म के बाह्याचार का निषेध, (२) जाति-पाँति और मत-सम्प्रदाय के भेद-भाव का खण्डन, (३) कृच्छ्र-साधना से विरक्ति, गृह-त्याग का विरोध और गृहस्थ जीवन पर बल, (४) काम-धंधे और व्यवसाय-व्यापार की स्वीकृति और परिश्रम से जीविकोपार्जन की पुष्टि, (५) सरल शान्त जीवन, मन का संयम और जीवन में ज्ञान तथा प्रेम का मिश्रण, (६) लोक-भाषा का व्यवहार जो विभिन्न प्रदेशों में स्थानीय भाषाओं के रूप में सामने आई और समस्त देश में एक सार्वजनिक सधुक्कड़ी बोली के रूप में विकसित हुई, (७) गुरु-शिष्य परम्परा का प्रचलन जिसने बाद में सम्प्रदायों का रूप ले लिया, (८) योग-तंत्र आदि की परिभाषाओं की नवीन नैतिक व्याख्या और उनके प्रचलित उपचारों का निषेध, (९) अद्वैत-दर्शन का प्रतिपादन और साथ ही उसमें प्रेम-साधना का मिश्रण, और (१०) भक्त और भगवान के व्यक्तिगत संबंध पर बल, भगवद्प्रेम की उपलब्धि की कामना तथा भगवत्लीला का रसास्वादन, प्रेम के आधार पर भक्त और भगवान की समानता का भाव, आत्मसमर्पण और भगवत्कृपा में विश्वास तथा नाम-जप का महत्व।

सगुण भक्ति के सम्प्रदाय और दर्शन

गुरु रामानन्द के भक्ति-आन्दोल दोन के रूप निखरे : एक सन्त मत जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है और दूसरा सगुण भक्त-सम्प्रदाय, जिसका उल्लेख अब अभीष्ट है। यह सम्प्रदाय पुराणों, विशेषतः भागवत पुराण में प्रतिपादित मतवाद का अनुयायी है। इसके अनुसार भगवान के तीन रूप हैं : स्वयंरूप, तदेकात्मरूप

और आवेशरूप। स्वयंरूप भगवान सृष्टि के निर्माण और संरक्षण की प्रक्रिया के फलस्वरूप नाना रूपों में अवतीर्ण होते हैं। उनके ये अवतार तदेकात्मरूप और आवेशरूप ग्रहण करते हैं। इन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : पुरुषावतार (भगवान का सृष्टिकर्ता रूप), गुणावतार (सतोगुण से युक्त ब्रह्मा, रजोगुण से युक्त विष्णु, तमोगुण से युक्त शिव) और लीलावतार (जिनका समय-समय पर परिस्थिति के अनुकूल २४ बार भिन्न-भिन्न रूपों में साधुओं के त्राण और दुष्टों के नाश के लिये प्रादुर्भाव हुआ)। निर्गुण और सगुण भगवान के दो रूप हैं। गुणातीत भगवान भक्तों के प्रेम से सगुण हो जाते हैं अर्थात् प्रेमवश भक्त भगवान में गुणों के दर्शन करने लगता है। तुलसीदास जी के शब्दों में :

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।

वास्तव में समस्त गुणात्मक सृष्टि के भगवान से निष्पन्न होने के कारण सभी गुण-मय रूप भगवान्मय हैं। जैसे बीज वृक्ष में पल्लवित होता है इसी प्रकार भगवान् गुणात्मक जगत् में निहित हैं। सूरदास में लिखा है :

जो उनके गुन नाहीं और भये कहाँतें ?
बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहौ कहाँतें ?

विश्व के सौन्दर्य, संतुलन और संयमन की प्रतीक भगवान् की लोक-लीला है, जो ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीडा-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी में व्यक्त होती है। रागात्मक और विधिपूर्ण भक्ति से लीला का आनन्द लेना और इसमें लीन होना भक्त की चरम-साधना है। सत्संग, नाम-कीर्तन, मूर्ति-सेवा, ब्रजवास आदि इस साधना की प्रमुख विधियाँ हैं।

गोस्वामी तुलसीदास और उनका रामचरित मानस

गुरु रामानन्द की सगुण भक्त परम्परा में सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली गोस्वामी तुलसीदास (१५३२–१६२३ ई०) हुए। गोस्वामी जी ने जीवन के अनेक पक्षों का साक्षात्कार किया : ब्राह्मण-वंश में जन्म लेकर शास्त्रों का पारायण किया, दरिद्रता के तीखे आघात सहे, दर-दर भटके, काम के पंजे में फंसकर मर्यादा के मार्ग से फिसले, अनपढ़ और असंस्कृत लोगों के निकट रहे और पण्डितों और संन्यासियों की संगति भी की। इस बहुविध अनुभव से उन्होंने पाप, दुःख और दरिद्रता से अभिभूत और कर्म, आस्था और साहस से विहीन तात्कालिक समाज की जरूरतों को पहचाना। इनमें सबसे बड़ी जरूरत लोक-धर्म और संस्कृति के बिखरे तारों को एकत्र करने की थी। गोस्वामी जी ने इस भगीरथ प्रयत्न का बीड़ा उठाया और समन्वय का महान् दर्शन प्रस्तुत किया। उनका काव्य, विशेषतः राम-चरितमानस, सर्वांगीण समन्वय का अप्रतिम ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान और भक्ति

का समन्वय, वैराग्य और गार्हस्थ्य का समन्वय, भुक्ति और मुक्ति का समन्वय, मर्यादित लोक-व्यवस्था और अद्वैती तत्त्वज्ञान का समन्वय, संक्षेप में, धर्म, संस्कृति जीवन, साहित्य और भाषा का व्यापक समन्वय संनिहित है। जहाँ आध्यात्मिक, स्तर पर जाँति-पाँति का भेद निरर्थक है, वहाँ लोक-व्यवस्था की दृष्टि से अनुशासित समाज वांछनीय है। इसीलिए शम्बूकवध के प्रसंग को और सीता-परित्याग की कथा को जान-बूझकर बिल्कुल छोड़ते हुए भी उन्होंने शूद्रों और स्त्रियों को समाज में निचली श्रेणी दी, लेकिन साथ ही यह भी पूरी तरह स्पष्ट कर दिया कि कर्तव्य-परायणता वह महान साधना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भेद-भाव के बिना संलग्न है और जो उसके जीवन को चरम लक्ष्य तक ले जाती है। सन्तों ने मनुष्य को भगवान तक पहुँचाने का प्रयास किया था, गोस्वामी जी ने भगवान को मनुष्य तक लाने की चेष्टा की। उनके भगवान्

सोइ सच्चिदानन्दघन रामा। अज विग्यान-रूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता॥
अगुन अदभ्र गिरा-गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥

होते हुए भी सामान्य मनुष्य की भाँति लोक-लीला में संलग्न होकर मर्यादित-जीवन का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करते हैं :

भगतहेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥

उन्हें भगवान का वह रूप अभिप्रेत है जिसमें वे सांसारिक जीवन के सभी पक्षों को अपने आदर्श से उद्भासित करते हैं। इससे स्रष्टा और सृष्टि की वह एकता, आध्यात्मिक और भौतिक जीवन का वह समन्वय, नैतिक और लौकिक मूल्यों का वह गठबन्धन निष्पन्न होता है जो सदा से भारतीय धर्म-संस्कृति का प्राण रहा है। अतः यथार्थ ही गोस्वामी जी की रामकथा असंख्य नर-नारियों का प्राण है और ठीक ही इसे भारत का बाइबिल कहा गया है।

चैतन्य का जीवन चरित

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित राम भक्ति के अतिरिक्त इस युग में ब्राह्म-सम्प्रदाय और रुद्र-सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित कृष्ण-भक्ति का भी यथेष्ट प्रसार हुआ। जिसका श्रेय मुख्यतः चैतन्य महाप्रभु (१४८५–१५३३ ई०) को है। चैतन्य का जन्म संस्कृत विद्या के विख्यात केन्द्र नवद्वीप (नदिया) के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। विद्याध्ययन समाप्त कर बीस वर्ष की आयु में उन्होंने एक स्थानीय टोल (पाठशाला) में शिक्षण-कार्य प्रारंभ किया। उसके बाद उन्होंने पूर्वी बंगाल का दौरा किया, जिससे उनकी विद्वत्ता की ख्याति काफी फैल गई। उन्होंने श्रीमद्भागवत,

न्याय और कलाप-व्याकरण पर टीकाएँ लिखीं जो पर्याप्त लोकप्रिय हुईं। तीर्थ यात्रा करते हुए गया में ईश्वर पुरी से उनकी भेंट हुई। उन्होंने उन्हें कृष्ण-भक्ति में दीक्षित किया। इस नवीन आलोक से उनका व्यक्तित्व चमक उठा और उन्होंने नवद्वीप पहुँचकर चौबीस वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया। तत्पश्चात् उन्होंने देश भर का भ्रमण किया। उड़ीसा होते हुए वे रामेश्वरम् तक गये और श्री सम्प्रदाय के केन्द्र श्रीरंगम्, माध्व-मत के केन्द्र उडुपि और शांकर-दर्शन के केन्द्र शृंगेरी में ठहरे। फिर वे महाराष्ट्रीय वैष्णव आन्दोलन के उत्स पण्ढरपुर गये और नामदेव के शिष्यों से मिले। वहाँ से द्वारका, प्रभास, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, काशी, सारनाथ आदि की यात्रा की। उस काल में बंगाल में जयदेव के 'गीतगोविन्द' (११७०), चण्डीदास (१४५०–१५२५) के 'श्रीकृष्णकीर्तन', चतुर्भुज के 'हरिचरित्र' (१४९४) और मालाधर वसु के 'श्रीकृष्णविजय' (१४८१) की धूम थी। नन्दनन्दन की प्रेमलीलाओं का ललित गान जन-मानस को मुग्ध कर रहा था। चैतन्य ने भावावेश में झूमती कीर्तन-मण्डलियों में प्रेम और आनन्द की जो रस-धारा बहाई उसने समस्त प्रदेश को आप्लावित कर दिया।

चैतन्य के शिष्यों की साहित्य-साधना

चैतन्य के आन्दोलन को उनके शिष्यों ने आगे बढ़ाया। इनमें वृन्दावन के छः गोस्वामी, सनातन, रूप, जीव, गोपालभट्ट, रघुनाथभट्ट और रघुनाथदास, प्रमुख हैं। सनातन के 'बृहद्भागवतामृत,' रूप के 'लघुभागवतामृत' और जीव के छः 'सन्दर्भों' में कृष्ण-भक्ति के दार्शनिक और रसपरक पक्षों का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। चैतन्य-चरित-संबंधी रचनाओं में कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य चरितामृतं', वृन्दावनदास का 'चैतन्यभागवत', लोचनदास और जयानन्द का 'चैतन्य मंगल', नरहरि चक्रवर्ती का 'भक्तिरत्नाकर' और ईशान नागर का 'अद्वैतप्रकाश' उल्लेखनीय हैं। भक्ति-प्रेरित संस्कृत काव्यों में कवि कर्णपूर का 'कृष्णाह्निक कौमुदी', कृष्णदास कविराज का 'गोविन्दलीलामृत', विश्वनाथ चक्रवर्ती का 'कृष्ण-भावनामृत', और जीव गोस्वामी का 'माधवमहोत्सव' और 'गोपालचम्पू' प्रसिद्ध हैं और नाटकों में कर्णपूर का 'चैतन्यचन्द्रोदय', रामानन्द रॉय का 'जगन्नाथ' और वल्लभ और रूप के 'विदग्धमाधव' और 'दालकेलिकौमुदी' प्रख्यात हैं। संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त भाषा में भी वृन्दावनदास, बलरामदास, रविशेखर रॉय, नरोत्तमदास, गोविन्ददास और ज्ञानदास ने अच्छी रचनाएँ कीं। इनमें कृष्णकमल गोस्वामी द्वारा राधा के मिलन-सुख का वर्णन अद्वितीय है। इस आनन्द की अनुभूति में उसे सब ओर कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देता है। सकल प्रकृति कृष्णमयी है और वर्षा ऋतु का श्याम मेघ कृष्णरूप का अवतार है। लालित्य और सरसता की दृष्टि से इस साहित्य की कहीं समता नहीं मिलती।

गौडीय मतवाद और सहजिया परम्परा

गौडीय वैष्णव मतवाद में सहजिया परम्परा का समावेश मिलता है। इसके अनुसार ब्रह्म निर्गुण, परमात्मा अन्तर्यामी और भगवान सगुण और सक्रिय हैं। भगवान की तीन शक्तियाँ स्वरूपशक्ति (उनकी अपनी शक्ति), जीवनशक्ति (जिससे जीवों की सृष्टि होती है) और मायाशक्ति (जिससे भौतिक जगत् का विकास होता है) हैं। स्वरूपशक्ति के तीन गुण सत्, चित् और आनन्द हैं और इनकी तीन क्षमताएँ सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी हैं। ह्लादिनी का रूपान्तर राधा है जो कृष्ण में निहित है। इनका भेद भगवान की आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति का अभिप्राय है। इनके पर्याय रति और रास, मदन और काम, शैवों के शक्ति और शिव और बौद्धों के प्रज्ञा और उपाय के समकक्ष हैं। भक्त को राधाभाव अपनाकर प्रेम की तीव्रता और गहनता द्वारा कृष्ण तक पहुँचने का प्रयास करना है।

जीव गोस्वामी का अचिन्त्य भेदाभेद का दर्शन

जीव गोस्वामी ने गौडीय वैष्णव दर्शन को और अधिक विकसित किया। उनका तत्त्ववाद 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है। इसके अनुसार जीव भगवान का अंश होने के कारण वैसा ही है, किन्तु चित् और आनन्द भगवान ही की विशेषताएँ हैं और मायाशक्ति से आश्लिष्ट जीव इनसे वंचित है। इस दृष्टि से जीव और भगवान में भेद है। भगवान के प्रसाद और अनुग्रह से प्रपत्ति और भक्ति द्वारा जीव भगवान का सान्निध्य प्राप्त करता है और अनुचर और सेवक के रूप में उसकी लीला का रसास्वादन करता है। यह भजनानन्द (भक्तिरस), स्वरूपानन्द (भगवान में लीन होना) से अधिक श्रेष्ठ है। इस प्रकार जीवन के चार पुरुषार्थों, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में एक पाँचवा 'भक्ति' भी शामिल होजाता है।

वैष्णव मत की सार्वजनिक सामाजिक दृष्टि

चैतन्य द्वारा प्रवर्तित कीर्तन-समागमों में जाति-पाँति का बन्धन न था। उनके अनुयायियों में रूप और सनातन परम्परा के अनुसार इस्लाम से मुड़ कर बने हिन्दू थे। नित्यानन्द ने तो धर्म का द्वार सब जातियों के लिए खोल दिया था। स्पष्टदायक, रामवल्लभी, सुभेदिनी, आडल, बाडल, साँई, सहजी आदि सम्प्रदायों में जाति-पाँति का कोई भेद न था। चैतन्यमत में मानववाद का प्राधान्य था और यह माना जाता था कि भगवान का मानवरूप, जिसे ग्रहण कर उन्होंने वृन्दावन में लीला की, उनका वास्तविक स्वरूप है। इसी दृष्टि से चण्डीदास ने कहा था कि मनुष्य रूपी सत्य सब से बड़ा है, उससे बड़ा और कुछ नहीं है (सबार ऊपरे मानुश सत्य, ताहार ऊपरे नाई)। चैतन्य मत में कलियुग को सर्वश्रेष्ठ युग बताया गया है

क्योंकि इसमें भक्ति की सम्भावना सब से अधिक है। परम्परा के अनुसार चैतन्य ने नवद्वीप के पाँच प्रमुख मुसलमानों को हिन्दू बनाया जिनमें वहाँ का क़ाज़ी 'पठान वैष्णव' कहलाया। उन्होंने विधवा-विवाह की अनुमति देकर सामाजिक कुरीतियों पर भी आघात किया। इस प्रकार चैतन्य मत पूर्वी भारत में सार्वजनिक मानववाद का ध्वज-चिह्न बन गया और इसने साधना, साहित्य और कला को अभिनव स्फूर्ति प्रदान की।

वल्लभाचार्य की शिष्य-परम्परा

जिन दिनों चैतन्य मत के गोस्वामी वृन्दावन का उद्धार कर रहे थे, उन्हीं दिनों विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय के आचार्य वल्लभ गोवर्धनगिरि पर श्रीनाथ के मन्दिर की स्थापना कर रहे थे। वल्लभाचार्य (१४७०–१५३०) ने 'सिद्धान्त रहस्य' नामक श्रीमद्भागवत् की टीका और अन्य ग्रन्थ लिखे। उनका अधिक समय बनारस में ही बीता। उनके बाद उनके पुत्र गोसाँई बिट्ठलनाथ उनके सम्प्रदाय के आचार्य हुए। इन दोनों पिता-पुत्र के चार-चार शिष्य हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य के निर्माता हैं। इन आठों को लेकर विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की प्रतिष्ठा की। इन के नाम इस प्रकार हैं—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें सूरदास प्रेम, वात्सल्य और शृंगार के अद्भुत कवि हैं। इनका सूर-सागर भक्ति का अगाध समुद्र है। विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक गद्य ग्रन्थ लिखे। इसी परम्परा में अग्रदास के शिष्य नाभादास ने 'भक्तमाल' की रचना की और प्रियादास ने इस पर टीका की। इन ग्रन्थों में संगृहीत भक्तों के चरित से भक्ति आन्दोलन को बड़ी स्फूर्ति मिली।

वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान् की सेवा-पूजा का बड़ा महत्व है और रथ-यात्रा, रासयात्रा और जन्माष्टमी के त्यौहार बड़ी श्रद्धा से मनाए जाते हैं और बाल्यकाल से युवावस्था तक के श्रीकृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित धार्मिक उपचार दिन में कई बार किए जाते हैं। मथुरा, राजस्थान और गुजरात में इस सम्प्रदाय का काफी प्रचलन है।

महाराष्ट्र का भक्ति आन्दोलन और एकनाथ एवं तुकाराम

महाराष्ट्र में भक्ति आन्दोलन गोरखनाथी और रामानन्दी परम्पराओं के मिश्रण से चला। निवृत्तिनाथ (१२७३–१२९७) गोरखनाथी मत के गाहिनीनाथ के शिष्य थे, तो ज्ञानदेव (१२७५–१२९६) के पिता ने रामानन्द से दीक्षा ली थी। ज्ञानेश्वर ने गीता पर अपनी प्रसिद्ध टीका 'ज्ञानेश्वरी' में अपने को

शंकर, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ की परम्परा से संबंधित किया है। यह परम्परा नामदेव (१४००-१४३०) और एकनाथ (१५४८-९८) तक चलती रही और इसी में आगे चलकर तुकाराम (१६०८-१६४९) और रामदास (१६०८-१६८१) हुए। इसमें स्त्रियों और निचली जातियों के लोगों ने बड़ा भाग लिया। इन्होंने जाति-पाँति का खण्डन किया, ऊँच-नीच का विरोध किया और आचारोपचार को व्यर्थ बताया। एकनाथ ब्रह्म और आतमा की एकता के प्रतिपादक थे किन्तु दैनिक कीर्तन किया करते थे। उनके अभंग साहित्य-सुधा और भक्ति रसामृत से भरपूर हैं। गुजरात में नरसी मेहता (१४१३-१४७६) और आखा भगत (१६१३-१६६३) ने भक्ति-धारा का प्रसार किया।

पंजाब का भक्ति आन्दोलन और गुरु नानक

पंजाब में भक्ति की रस-धारा गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०) की वाणी द्वारा प्रसारित हुई। उन्होंने कृषक, दुकानदार, व्यापारी और भण्डारी के काम किए और अन्त में गृह-त्याग कर विस्तृत भ्रमण किया और देश से बाहर भी गए। उनकी दृष्टि में समस्त पृथ्वी एक पवित्र स्थान है और उसके सब निवासी समान हैं। जो कोई सत्य से प्रेम करता है वही पवित्र है। भगवान सत्य रूप (सत श्री अकाल) है। अतः सत्य के आग्रह और अच्छे आचरण से मनुष्य उस तक पहुँच सकता है। धर्मों के बाहरी आडम्बर और उपचार बेकार हैं और मनुष्यों के बीच में खाइयाँ खोद कर उन्हें एक दूसरे से अलग और गुमराह करते हैं। हिन्दू और मुसलमान सभी इस घटाटोप में फंसकर भटक रहे हैं। अतः उन्होंने मुसलमानों को सम्बोधित कर कहा : 'दया को मस्जिद जानो, उसमें सचाई की सफ बिछाओ, न्याय और ईमानदारी को कुरान समझो, नम्रता को सुन्नत का स्थान दो, सौजन्य को रोज़ा (व्रत) मानो, तब तुम मुसलमान होगे।' पाँच नमाज़ों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा "पहिली नमाज़ सचाई है, दूसरी इन्साफ है, तीसरी दया है, चौथी नेकनीति है और पाँचवी भगवान का स्तवन है।" हिन्दुओं को सम्बोधित कर उन्होंने कहा "मैंने चारों वेद पढ़े हैं, अढसठ तीर्थों पर स्नान किया है, वनों और जंगलों में निवास किया है और सातों ऊपरी व निचली दुनियाओं का ध्यान किया है और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि वही मनुष्य अपने धर्म के प्रति सच्चा है जो भगवान से डरता और अच्छे काम करता है।" उन्होंने मनुष्य को सब भेद-भाव भूलकर ईमानदारी और नेकनीति से अपना काम करने की सलाह दी। उनकी पारदर्शक नैतिकता थोथे तत्त्व ज्ञान को लांघकर जीवन की संजीवनी सिद्ध हुई। उनकी परम्परा की चर्चा आगे की जाएगी।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में भक्ति-आन्दोलन का स्थान

भक्ति-आन्दोलन के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इसने दक्षिण से उत्तरी भारत में फैलकर लोक जीवन को नया मोड़ दिया। इसकी सबसे बड़ी देन सार्वभौम मानवता के आधार पर लोक धर्म और संस्कृति के समस्त सूत्रों को इकट्ठा करना था। इसके प्रवर्तकों और प्रचारकों ने जाति-पाँति और वर्ग-वैशिष्टय के भेद को मिटाकर सब मनुष्यों को समान घोषित किया। रामानन्दी सूत्र :

जाति-पाँति जानै नहिं कोइ।
हरि को भजै सो हरि का होइ॥

उनकी ललाट-लिपि बन गया। इस मानववाद के साथ उन्होंने व्यक्तिवाद को भी जोड़ा। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति का भगवान से सीधा और निजी संबंध है। इसकी खोज में उसे गुरु से सहायता मिलती है किन्तु असली गुरु तो स्वयं भगवान ही हैं। इस खोज के लिए उसे अपना रास्ता ढूँढने का हक है; लेकिन सबसे सहज, सीधा और सच्चा रास्ता सदाचार, मन का संयम और हृदय में भक्ति और प्रेम जाग्रत करना है। इसके लिए घर-बार छोड़ना, वैराग्य लेना और भिक्षाटन करना ज़रूरी नहीं है। वरन् गृहस्थ-जीवन बिताते हुए, अपने काम-धंधे और मेहनत-मज़दूरी में लगे रहते हुए, बाल-बच्चों का पालन-पोषण करते हुए और अपने सामाजिक संबंधों का समुचित निर्वाह करते हुए, इसे आसानी से अपनाया जा सकता है। शास्त्रों के आडम्बर और उपचार, दर्शनों की दुरूहता और जटिलता और सम्प्रदायों की कट्टरता और एक-पक्षीयता इसके सबसे बड़े बाधक हैं। सूखे ज्ञान का जंजाल और शारीरिक साधनाओं का गोरखधंधा भी इसमें रुकावटें पैदा करता है। भक्ति की सरसता, अनुभूति की गहनता और प्रेम की तीव्रता ही मनुष्य को इस पर ले चलने और लक्ष्य तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखती है। इनके अवलम्बन से गति और गन्तव्य में भेद नहीं रहता, साधना और सिद्धि एक हो जाते हैं, चेष्टा ही लक्ष्य का रूप ले लेती है, भक्ति में ही मुक्ति का अनुभव होता है, प्रेम का माधुर्य ही मिलन के सुख का पर्याय बनता है। अतः भक्त भगवान की लीला में रमकर और उसके भजन के आनन्द में झूमकर प्रेम-रस की अजस्र धारा में बहते हुए चरम सिद्धि की उपलब्धि से आप्लावित हो जाते हैं। उन्हें अद्वैत, एकीकरण, सायुज्य आदि का ध्यान नहीं रहता, परमात्मा बनने और कहलाने की चिन्ता नहीं रहती, सिद्धान्त, दर्शन और तर्क की द्विविधाएँ नहीं घेरतीं। वे भक्ति और प्रेम की तरंगिणी में स्नान कर शुद्ध और बुद्ध हो जाते हैं, उनकी वाणी और व्यक्तित्व रस से भर जाते हैं और उनका हर्ष और उल्लास कविताओं, गीतों और भजनों में फूट पड़ता है। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन ने भाषा, साहित्य और कला को बहुत प्रोत्साहन देकर मध्यकाल को लालित्य और

माधुर्य से भर दिया। फलतः हम इस काल में एक अनुपम सांस्कृतिक अभ्युत्थान का दर्शन करते हैं। साथ ही इन्होंने संगठनात्मक कार्य कर और संस्थाओं का निर्माण कर सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन किया और लौकिक विषमताओं का विरोध कर भौतिक भेद-भाव की निन्दा की। इस प्रकार हर दृष्टि से भक्ति-आन्दोलन ने एक व्यापक सृजन-क्रिया को जन्म दिया।

ग्यारहवाँ अध्याय

मुग़ल-कालीन सामंजस्य

मुग़ल साम्राज्य

मुग़ल मंगोलों के वंशज थे। तेरहवीं सदी से ही इन्होंने भारत पर हमले शुरू कर दिए थे। इनमें से बहुत से आक्रमणकारी तो दिल्ली की दीवारों तक बढ़ आए थे। १३९८ ई० में तैमूर ने पंजाब और हरियाना को रौंद कर दिल्ली को तहस-नहस किया। उसके वंशज लाहौर तक धावे बोलते रहे। अन्त में १५२६ ई० में इस वंश के ज़हीरुद्दीन बाबर ने पानीपत के युद्ध में दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को हराकर उत्तरी भारत में मुग़ल साम्राज्य स्थापित किया। १५३० ई० में उनका पुत्र हुमायूँ गद्दी पर बैठा, किन्तु १५४० ई० में अफगान नेता शेरशाह सूर ने उन्हें निष्कासित कर अपना राज्य क़ायम किया। १५५५ ई० में हुमायूँ ने फिर लौटकर अपना राज्य सम्भाला लेकिन अगले ही वर्ष उनकी मृत्यु हो गई और उनका यशस्वी पुत्र अकबर राज्यारूढ़ हुआ। अकबर ने पंजाब में सिकन्दर सूर, दिल्ली-आगरे में हेमू और चुनार में अदली से लोहा लिया और ग्वालियर (१५५६ ई०), मालवा (१५६१ ई०), गोण्डवाना (१५६४ ई०), चित्तौड़ (१५६८ ई०), रणथम्बोर (१५६९ ई०), कालिंजर (१५६९ ई०), गुजरात (१५७२ ई०), सूरत (१५७३ ई०), बिहार (१५७४ ई०), बंगाल (१५७६), काबुल (१५८५ ई०), यूसुफजई (१५८६ ई०), कश्मीर (१५८६ ई०), सिन्ध (१५९० ई०), उड़ीसा (१५९२ ई०), बरार (१५९६ ई०), गाविलगढ़ और नर्नाला (१५९८ ई०), अहमदनगर (१६०० ई०) और असीरगढ़ (१६०१ ई०) को जीतकर सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना की, जिसका स्वर्णकाल १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु तक रहा। अठारहवीं सदी में इसका घोर पतन हुआ और १८५७ ई० में बहादुरशाह ज़फर के निष्कासन के साथ ही इसकी समाप्ति हो गई।

मुग़लों का बुद्धिवाद

मुग़लों को मंगोलों से बुद्धिवाद, उदारता और विस्तृत दृष्टिकोण उत्तराधिकार में मिले। चंगेज़ खाँ और उनके वंशज क्रूर और निर्दय होते हुए भी सहिष्णु और गुणग्राही थे। चंगेज़ सकल विश्व को भगवान् का निवास मानते हुए इस्लाम द्वारा विहित काबे की यात्रा के विरोधी थे, तो मंगू खाँ सब धर्मों को हाथ की पाँच उंगलियों के समान समझते थे और हुलाकू खाँ ने बौद्ध शासन में दीक्षा ली थी। जैसा कि रशीदुद्दीन ने अपनी 'जामी-उल-तवारीख' में लिखा है, उनके शासन में सब धर्मों और

सम्प्रदायों (अदयान व मिलेल) के दार्शनिक, ज्योतिषी, विद्वान् और इतिहासज्ञ (हुकमा व मुनज्जिमान व अरबाबे-दानिश व असहाबे-तवारीख) एक दूसरे के निकट आ गए थे। इस परम्परा को आत्मसात् कर मुग़ल भी विस्तृत दृष्टिकोण और विशाल हृदय लेकर भारत आए। उनकी मनः स्थिति अकबर के इस कथन में सन्निहित है कि 'बुद्धि रूपी रत्न से ही मनुष्य का गौरव है' (बरतरी आदमज़ाद बगौहर-ए-खिर्द अस्त)।

मुसलमानों में संकीर्णता और कट्टरता का ज़ोर

भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना के समय इस्लाम में कट्टरता बढ़ रही थी। भक्ति आन्दोलन की आँधी ने शास्त्रीय लोगों को रूढ़ियों की कोठरी में धकेल दिया था। अलाउद्दौला सिमनानी (१२६१--१३३६ ई०) के रहस्यवाद और पुराण-पन्थिता का आश्रय लेकर सूफी सन्त भी कट्टरता की ओर बढ़ रहे थे। चिश्ती सम्प्रदाय के निज़ामुद्दीन औलिया के प्रशिष्य और नासिरुद्दीन चिराग़ के शिष्य सैय्यद मुहम्मद गेसूदराज़ (१३१७--१४२२ ई०) शास्त्रीयता (शरीयत) के प्रबल समर्थक थे। उनका विचार था कि सूफी को किसी भी दशा में शास्त्र-विहित मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए। वे निर्धनता और उपवास को साधना के लिए आवश्यक नहीं समझते थे और राजाओं और दरबारियों से घुलमिल कर रहते थे। इसी परम्परा के शेख निज़ामुद्दीन अमेठवी (मृ० १५७१ ई०) प्रामाणिक शास्त्रों के पारायण पर ज़ोर देते और स्वतन्त्र चिन्तन का विरोध करते थे। उन्हें सूफियों की संगति-गोष्ठियों से घृणा थी। इसी प्रकार शेख अब्दुल क़ुद्दूस गंगोही (मृ० १५३६ ई०) अद्वैत-दर्शन (वहदतुलवुजूद) के अनुयायी होते हुए भी शरीयत के अनन्य पक्षपाती थे। सिकन्दर लोदी, बाबर और हुमायूँ को लिखे गए पत्रों में उन्होंने शरीयत पर आधारित मुस्लिम शासन को दृढ़ करने की प्रेरणा दी। सुहरवर्दी सम्प्रदाय में भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ रही थीं और सैय्यद जलालुद्दीन बुखारी मख़दूम-ए-जहानियाँ (१३०८--१३८४ ई०) अल्लाह को 'ठाकुर', 'धनी' या 'करतार' कहना कुफ्र समझते थे और शब-बरात पर आतिशबाज़ी चलाना और मज़ारों पर सफेदी करना या दीपक जलाना ग़लत मानते थे। नक्शबन्दी सम्प्रदाय के सन्त भी पुराण और परम्परा (शरीयत और सुन्नत) के बड़े समर्थक थे। इन सन्तों के अतिरिक्त 'उलमा' (विद्वानों) में देवतत्त्व (कुरान और हदीस) की चर्चा ज़ोरों पर थी। शेख हुसामुद्दीन मुत्तक़ी शास्त्राचार के अनुवर्तन (तक़लीद) के इतने पक्के थे कि यदि वे ऐसा भोजन कर लेते जिसके पकाने में शास्त्र के किसी नियम का उल्लंघन हो तो उन्हें भारीपन और बदहज़्मी होने लगती। एक बार जब उनके पेट में शिकायत हुई तो पता चला कि इसका कारण किसी पड़ौसी के खेत से उसकी अनुमति के बिना सूखी घास काट कर उससे जलाई गई आग पर ब

ोजन है। उनके शिष्य शेख अली मुत्तक़ी और प्रशिष्य शेख अब्दुल वह्हाब मुत्तक़ी
ज० १५३६ ई०) भी उन्हीं के समान शास्त्रीय नियमों के अक्षरशः पालन में विश्वास
रते थे। उनका मत था कि धार्मिक श्रद्धा को दृढ़ करने पर ही सूफियों आदि के
न्थ पढ़ना उपयोगी है। शेख अब्दुल हक़ मुहद्दिस देहलवी (१५५१–१६४२ ई०)
स्लाम के प्रकाण्ड पण्डित और इसकी सब धाराओं के समन्वयकारी होने पर भी
ज़्जी की 'सुलेह-ए-कुल' (सर्वजन सुख) की नीति को कुफ्र और उन्हें हज़रत मुहम्मद
ा शत्रु समझते थे। इस काल के मुल्ला-मौलवियों की संकीर्णता का परिचय इस
ात से मिल जाता है कि मौलाना अब्दुल्लाह सुल्तानपुरी हज्ज को इसलिए आवश्यक
हीं समझते थे कि मक्का-शरीफ जाने के लिए या तो ईसाइयों के जहाज़ों पर चढ़
र जाना पड़ता था या ईरान के शिया शासकों के देश से गुज़रना पड़ता था। इस
ट्टरता के साथ-साथ उनकी लोलुपता का भी ठिकाना न था। कहा जाता है कि
न्होंने ज़कात से बचने के लिए अपना रुपया और जायदाद अपनी पत्नी के नाम कर
या। उनके मरने पर लाहौर में उनके मकान से बेशुम्मार सोने की ईंटें निकलीं।
नकी तरह उनके समकालीन शेख अब्दुन्नबी पुराणपन्थी कट्टरता और धर्मान्धता
बहुत बढ़े-चढ़े थे। प्रधान काज़ी (सद्र-अल-सुदूर) की हैसियत से उन्होंने एक ब्राह्मण
ो पैगम्बर के प्रति अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करने के अभियोग में मृत्युदण्ड दिया।
ही नहीं, एक बार अपने कपड़े पर केसर का दाग लग जाने पर उन्होंने खुले
रबार में अकबर पर छड़ी का प्रहार किया। इससे सभा में बड़ी नाराज़गी फैली,
नके माल असबाब की जाँच की गई और यह पाया गया कि उन्हें हज्ज के समय
ैरात के लिए जो धन दिया गया था उसे उन्होंने हज़्म कर लिया और इसके
लावा बेईमानी से काफी रुपया और जायदाद पैदा की। फलतः उन्हें कारावास
ा दण्ड दिया गया और अपराधी के रूप में उनकी मृत्यु हुई।

कबर के मन पर इस्लामी कट्टरता की प्रतिक्रिया

इस्लाम की उक्त प्रवृत्तियों से अकबर के भावुक और विशाल हृदय को बड़ी
स पहुँची और उन्हें इसके शास्त्रीय आचार-उपचार से विरक्ति हो गई। जेसविट
ादरियों के वृत्तों से पता चलता है कि वे इस्लाम में रुचि नहीं रखते थे और इसे
न समझते थे। संत जेवियर ने लाहोर में उनसे मुलाकात करने के बाद लिखा कि
"मफूमेद (मुहम्मद) और उनके कृत्यों की आलोचना करते हैं...ऐसा प्रतीत होता है
भगवान ने उन्हें मनुष्यों के हृदय से मफूमेद (मुहम्मद) के धर्म को मिटाने के लिए
देशों में भेजा है"। (डोनेल्ड लाख द्वारा 'एशिया इन दि मेकिंग ऑव योरोप';
४६३ पर उद्धृत)। इस्लामी शास्त्राचार में उनकी अरुचि का परिचय इस बात
मिलता है कि उन्होंने दरबार में पाँच समय की नमाज़ छोड़ दी और रोज़ा व
ज बन्द कर दिया। एक बार जब वे ... के साथ ... रहे थे और ... उसने

सूरज डूबता देखकर नमाज़ पढ़ने की इजाज़त चाही तो उन्होंने कहा 'इसे जाने दो, मुझे अकेला मत छोड़ो', किन्तु जब वह दुपट्टा बिछाकर घुटनों के बल झुक गया तो वे उसे बराबर ठुकराते और उठने के लिए कहते रहे। शेख फरीद भक्करी द्वारा रचित 'ज़खीरा-अल-खवानीन' में इस घटना का विशद वर्णन है। इससे जहाँ यह प्रकट होता है कि अकबर को नमाज़ में आस्था न थी, वहाँ यह भी पता चलता है कि उनके सभासद समय पर नमाज़ पढ़ने की स्वतंत्रता रखते थे। अतः मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी का यह उल्लेख, कि उन्होंने मस्जिदों में घुड़सालें बनवाईं, शेखों और फकीरों को कंधार भिजवाकर घोड़ों के भाव बिकवाया, हजरत मुहम्मद के नाम की मनाही की और इस्लाम की जानबूझ कर खिल्ली उड़ाई, अतिरंजित प्रतीत होता है।

अकबर की धर्म निरपेक्षता

अकबर यदि पक्के मुसलमान नहीं थे तो वे हिन्दू भी नहीं बने और ईसाइयत की ओर भी नहीं झुके। वे सब धर्मों के आचार्यों से बात करते और उनके सिद्धान्तों में रुचि रखते थे। शेख ताजुद्दीन, शेख मुबारक और मीर अब्दुल लतीफ आदि सूफियों और शेख सलीम चिश्ती आदि सन्तों में उन्हें श्रद्धा थी। जैन आचार्य हरिविजय सूरी, विजयसेन सूरी और भानुचन्द्र उपाध्याय उनकी विचार-गोष्ठियों में भाग लेते थे। पारसी विद्वान दस्तूर और कैवान, ईसाई पादरी एक्वावीवा और मोन्सेराते, और प्रसिद्ध योगी पुरुषोत्तम और देवी उनके सतत सम्पर्क में रहते थे। कहा जाता है कि उन्होंने दादू, मीराबाई और सिख गुरु अमर दास से भी भेंट की। इन विविध धर्मों और सम्प्रदायों के पण्डितों और साधकों की उन पर गहरी छाप भी पड़ी। फलतः उन्होंने निरामिष भोजन शुरु किया, पिंजरों से पक्षियों को छुड़वाया और विशिष्ट दिनों पर पशुवध की मनाही की। उनके मकान में अग्नि निरन्तर जलती रहती थी, वे सूर्य-स्तोत्र का नित्य जाप करते थे, सिर और दाढ़ी मुँडाते थे और एकान्त में ध्यानस्थ होकर परमतत्त्व पर विचार किया करते थे। तथापि उन्हें कोई एक धर्म पूरी तरह नहीं रुचता था। वे हर धर्म की अच्छी बातों को ग्रहण करने और बुरी बातों को छोड़ने में विश्वास करते थे। अतः उन्होंने सम्प्रदाय की दृष्टि से किसी धर्म को नहीं अपनाया। उन्हें इस रूप में धर्मनिरपेक्ष कहा जा सकता है।

मज़हर और दीन-ए-इलाही का प्रश्न

१५७९ ई० में अकबर ने मज़हर की घोषणा की और धार्मिक और शास्त्रीय प्रश्नों पर मतभेद की अवस्था में अपना निर्णय देने का अधिकार सिद्ध किया। उनके

बहुत से विचार और आचार उनके सभासदों ने अपनाए। फलतः उनके दरबार में एक विशिष्ट विचार-पद्धति और आचार-संहिता पर चलने वाले लोगों का दल बन गया। इसे प्रायः दीन-ए-इलाही कहा जाता है। किन्तु अबुल फ़ज़ल ने कहीं इस शब्द का प्रयोग नहीं किया और अब्दुल कादिर बदायूनी ने केवल एक बार इसका उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि अकबर ने किसी नये धर्म का प्रवर्तन कर जनता में इसका जोर-शोर से प्रचार किया हो अथवा बलपूर्वक लोगों को इसे मानने पर मजबूर किया हो। निस्सन्देह वे अपने समय के धर्मों की साम्प्रदायिक कट्टरता और पक्षपातपूर्ण संकीर्णता से क्षुब्ध थे और चाहते थे कि सभी धर्म-वृक्षों के सुरभित सुमनों को चुन कर नैतिक और मानवीय मूल्यों की महक फैलाने वाली मान्यताओं का गजरा गूँथा जाए; इस दृष्टि से उन्होंने कुछ मत और मूल्य निर्धारित किए और कुछ आचारों पर भी जोर दिया; किन्तु ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने कोई नया धार्मिक सम्प्रदाय उठाया हो अथवा स्वतंत्र पन्थ चलाया हो और उसे अग्रसर करने के लिए अन्य धर्मों की निन्दा की हो और उनपर पाबन्दी लगाई हो। वास्तव में सभी धार्मिक सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में एकपक्षीयता रहती है और अकबर की व्यापक दृष्टि और तत्त्वग्राहिणी मेधा इसके बिलकुल प्रतिकूल थी। सन्त जेवियर ने लिखा है कि उनके हृदय को किसी धर्म में शान्ति नहीं मिलती थी।

नई आचार संहिता

तथाकथित दीन-ए-इलाही के अनुयायी आन्तरिक संयम और संतुलन पर बहुत जोर देते थे। उदारता और परोपकार (जूद-ओ-करम), सांसारिक वासनाओं (शहवात-ए-दुनयाविया) से बचना, संसार से बिल्कुल मन हटा कर सत्य की ओर पूर्णतः ध्यान देना (एतराज़ अज़ खल्क़ कुल्ली व तवज्जह बिल्कुल्लिया बहक़) और हर काम में बुद्धि से काम लेना और उसके द्वारा प्रशस्त मार्ग पर चलना (कुवत तारीफ-ए-अक्ल) उनके प्रमुख आदर्श थे। वे किसी की मृत्यु पर दिए गए भोज में शामिल नहीं होते थे, जहाँ तक होता मांस-भक्षण से बचते थे, मछुओं, क़साइयों, और चिड़ीमारों के साथ भोजन नहीं करते थे, और गर्भवती, बूढ़ी और बाँझ औरतों और नाबालिग़ लड़कियों के साथ सहवास नहीं करते थे। रविवार को दीक्षा होती थी। बारह-बारह आदमियों के जत्थे पगड़ी उतार कर सम्राट् के सामने पेश होते और वे उन्हें फिर से उनके सिरों पर रख देते थे। दीक्षित चेले कहलाते और एक शस्त पहनते थे जिस पर केवलभाव का सूचक 'हू' शब्द अंकित होता था। जब दो आदमी एक दूसरे से मिलते तो एक 'अल्लाहुअकबर' कहता और दूसरा 'जल्ले जलालहु' कहकर उसका उत्तर देता। यह आचार ताजुद्दीन, अबुलफज़्ल व फैज़ी आदि ने निश्चित किया किन्तु अकबर इसे कट्टरता का रूप देने के बिल्कुल विरुद्ध थे।

अकबर की सामाजिक नीति और हिन्दुओं के प्रति उनका दृष्टिकोण

अपने विचारों के अनुरूप अकबर ने हिन्दुओं पर जज़िया माफ किया, मांस भक्षण पर पाबन्दी लगाई, मुसलमान बनाए गए हिन्दुओं को फिर से शुद्ध होने की स्वतंत्रता दी, अन्तर्जातीय विवाहों की मनाही की, १६ वर्ष से कम के लड़कों और १४ वर्ष से कम की लड़कियों के विवाहों को अवैध घोषित किया, चचेरे भाई-बहनों के रिश्तों का विरोध किया, यदि पत्नी वन्ध्या न हो तो उसके जीवित रहते अन्य पत्नी न रखने का कानून बनाया, विधवा-विवाह की इजाज़त दी और स्त्री की इच्छा के विपरीत उसे सती होने पर विवश करने की रोकथाम की। राजकाज में उन्होंने हिन्दू मुसलमान में कोई भेद नहीं समझा और हिन्दुओं को काफी ऊँचे पद दिए। मानसिंह, बीरबल, टोडरमल आदि उनके साम्राज्य के मेरुदण्ड थे। टोडरमल, पक्के हिन्दू थे और बिना पूजा किए हुए भोजन नहीं करते थे। एकबार राजस्थान के किसी अभियान में उनका मूर्तियों का पिटारा कहीं खो गया तो उन्होंने भोजन छोड़ दिया और अकबर को उसकी खोज कराने में काफी सरदर्दी करनी पड़ी। उनकी मदद से १५८५ के लगभग नारायण भट्ट ने काशी में विश्वनाथ मन्दिर को फिर से बनवाया और १५८९ में द्रौपदी-कुण्ड की स्थापना की। उनके पुत्र गोवर्धन ने काशी के कला-केन्द्रों और विद्वत्समाज में बड़ा आदर पाया। अकबर ने राजपूत राजाओं से भी गहरे सम्बन्ध स्थापित किए। राजस्थानी लोक गीतों में जल्ला और जल्लाल के नाम से उनका नामोल्लेख होता है। राणा प्रताप से मेल करने के लिए उन्होंने कई बार जलाल खाँ कूरची, मानसिंह और टोडरमल को भेजा किन्तु उस स्वातन्त्र्यप्रिय वीर को किसी भी अन्य शक्ति के सामने झुकना स्वीकार न था और उसने अपने आदर्श के लिए बलिदान और वीरता का अनोखा उदाहरण दिया। अकबर हिन्दुओं के मनोभावों का कितना सम्मान करते थे इसका परिचय इस बात से मिल जाता है कि अपनी माता के देहान्त पर उन्होंने चालीस दिन का शोक वक्त से बहुत पहिले समाप्त कर दरबार में दशहरा मनाने का आदेश दिया, क्योंकि यह त्यौहार बीच में आ गया था।

जहाँगीर की धर्म-विषयक नीति

अकबर की मृत्यु पर उनका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से सिंहासन पर बैठा। कुछ लोगों का विचार है कि उन्हें उन कट्टर मुसलमानों का समर्थन प्राप्त था जो अकबर की सहिष्णु और धर्म-निरपेक्ष नीति से रुष्ट थे और उनके पथ पर चलने की प्रवृत्ति वाले उनके पौत्र राजकुमार खुसरो के खिलाफ थे। किन्तु असद बेग के 'वाकये' से पता चलता है कि जिन दरबारियों और अमीरों ने सलीम का समर्थन और खुसरो का विरोध किया उनके सामने हिन्दू-मुसलमान का सवाल नहीं था बल्कि वे

समझते थे कि सलीम के अधिकार की अवहेलना चग़ताई परम्परा के विपरीत है। जहाँगीर की आत्मकथा 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' से पता चलता है कि वे अपने पिता की सुलेह-ए-कुल की नीति के बड़े प्रशंसक थे, वेदान्त को सूफीमत का उच्चतम रूप मानते थे, यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त में श्रद्धा नहीं रखते थे। मानव प्रेमी सन्त मियाँ मीर और जद्रूप गोसाँई का बड़ा सम्मान करते थे और किसी को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश करने के सख्त विरोधी थे। उनके राज्यकाल के आरम्भ में शेख अहमद फारूक़ी सिरहिन्दी (१५६४–१६२४ ई०) ने, जो अपने आपको मुजहिद-अलफ-ए-सानी (दूसरी सहस्राब्दि का प्रवर्तक) कहता था, इस्लामी कट्टरता का बाजार गर्म किया। उनके अनुयायियों द्वारा लिखित प्रचार ग्रन्थों, जैसे 'रौजत-उल-कैय्यूमिया' में जहांगीर को उनके आदेशानुसार काफिरों पर फिर से जज़िया लगाने वाले, अपने हाथ से गोवध करने वाले, हर प्रकार की बिदत (नवीनता) को रोकने वाले और पूरी तरह शरीयत पर चलने वाले कट्टर मुसलमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने जज़िया लगाया हो अथवा सर्वत्र गोवध का आदेश दिया हो। कांगड़ा-विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने जो गोवध कराया वह उनके एक अजेय हिन्दू दुर्ग को जीतने के आकस्मिक भावावेश का परिणाम था। इसे राज्य की निश्चित नीति नहीं कहा जा सकता।

शेख मुहिबुल्लाह अलाहाबादी और दाराशिकोह

शाहजहाँ के राज्यकाल में मुल्ला महमूद जौनपुरी आदि के प्रभाव से फिर कट्टरता ने जोर पकड़ा। १६३२ ई० में उन्होंने आदेश दिया कि साम्राज्य भर में अधबने हिन्दू मन्दिरों का निर्माण रोक दिया जाए और फलतः बनारस में ही ७६ अपूर्ण मन्दिर गिरा दिए गए। किन्तु इसी युग में मियाँ मीर (जन्म १५५० ई०) ने सार्वभौम मानववाद का सन्देश दिया, शेख मुहिबुल्लाह अलाहाबादी (१५८७–१६४८ ई०) ने अद्वैतवाद का सहारा लेकर यह घोषणा की कि धर्म हिन्दू और मुसमलानों में भेद करने की अनुमति नहीं देता और शेख सरमद ने मन्दिर और मस्जिद, काबा और गिरजा, सब को बेकार बताते हुए भगवान के सर्वव्यापी प्रेमरूप का निरूपण किया। स्वयं शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह (१६१५–१६५९ ई०) ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई को पाटने के लिए आध्यात्मिक एकता और दार्शनिक समन्वय का सेतु बनाने का प्रयास किया। उन्होंने सब धर्मों के ग्रन्थ पढ़े और उनके आचार्यों से संबंध स्थापित किया। उन्हें सब धर्मों में जिस मौलिक एकता का साक्षात्कार हुआ उसका निरूपण उन्होंने अनेक ग्रन्थों में किया। 'रिसाला-ए-हक़नुमा' में उनके अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन मिलता है। इसमें उन्होंने घोषणा की :

"ओ तू भगवान की खोज में उसे सब जगह ढूँढता है।
तू सचमुच स्वयं भगवान है, उससे भिन्न नहीं है।।"

दारा शिकोह का 'मजमा-अल-बहरैन' (समुद्र-संगम) और 'सिर्र-ए-अकबर' (महान रहस्य)

'तरीक़त व हकीक़त' में दारा ने आध्यात्मिक अभ्युत्थान की तीस मंजिलों की चर्चा करते हुए अनुभूति को तर्क से ऊँचा सिद्ध किया। 'हसनत-अल-आरिफीन' में उन्होंने कबीर, लालदास, चरनदास और बाबा प्यारे आदि सन्तों के विचारों का निरूपण कर इस्लाम और कुफ्र के भेद का खण्डन किया। 'सकीनत-अल-औलिया' और 'सफीनत-ए-औलिया' में भी उनके सूफी विचार संगृहीत हैं। किन्तु उनका सबसे मौलिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'मजमा- अल-बहरैन' (समुद्र-संगम) है जिसमें उन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम का तुलनात्मक अध्ययन कर इनकी मौलिक एकता प्रतिपादित की। यह ग्रन्थ बीस अध्यायों में विभक्त है। उनमें पंचभूत (अनासिर), पंच इन्द्रिय (हवास), जप, भगवान के गुण, (सिफात अल्लाह ताला), आत्मा-परमात्मा (रूह-अबुलअरवाह), प्राण-वायु (बाद), चार संसार (अवालम-ए-अरबिया), ध्वनि (आवाज़), ज्योति (नूर), साक्षात्कार (रूयत), ईश्वर के नाम (अस्मा-ए- अल्लाह-ताला), सन्तमत और पैगम्बरी (नबूवत), ब्रह्माण्ड (कुल्ल), दिशा (जिहात), आकाश (आसमान), पृथ्वी (ज़मीन), सप्तद्वीप (हफ्त-इक़लीम), आत्मा का सूक्ष्मशरीर में प्रवेश (बरज़ाख), प्रलय (कयामत), मुक्ति (निजात), दिन और रात (रोज़ व शब) और युगवृत्त (अदवार) पर समन्वय मूलक दृष्टि से विचार किया गया है। इस ग्रन्थ के अलावा दारा ने योगवासिष्ठ, षट्भूमिक, प्रबोधचन्द्रोदय और उपनिषदों का अनुवाद किया। इस कार्य में बनारस के पण्डितों ने काफी सहयोग दिया। उनका 'सिर्र-ए-अकबर' नामक उपनिषदों का अनुवाद उत्कृष्ट रचना है। इसमें प्रस्तावना और संस्कृत-फारसी शब्द-सूची के अतिरिक्त ऋग्वेद के तीन, यजुर्वेद के बारह, सामवेद के एक और अथर्ववेद के छत्तीस उपनिषदों का अनुवाद है। इसमें हिन्दू विचारों और परिभाषाओं को मुसलिम मान्यताओं के अनुसार ढाला गया है, जैसे महादेव = इस्राफील, विष्णु = मिकाईल, ब्रह्मा = जिब्राईल, ब्रह्मलोक = आलम-ए-जात, प्राणायाम = हब्स-ए-नफ्स, ओ३म = इस्म-ए-आज़म, ओ३म नमः = हू अल्लाह। इन ग्रन्थों से हिन्दू और मुसलमानों को एकता के धरातल पर लाने के भव्य प्रयास का पता चलता है। दारा का काशी के प्रसिद्ध पण्डित कवीन्द्राचार्य से घनिष्ट संबंध था और सम्भव है उनके माध्यम से शाहजहाँ के दरबार में उनकी पहुँच हुई हो और काशी और प्रयाग के यात्रियों पर से यात्री-कर उठाया गया हो।

औरंगजेब के जमाने के अद्वैतवादी मुसलमान सन्त

शाहजहाँ की मृत्यु पर उनके पुत्रों में भयंकर गृह-युद्ध छिड़ा। इसमें औरंगजेब की विजय और दारा की पराजय हुई। उन्होंने दारा को अपराधी घोषित

करने के लिए उन पर अनेक अभियोग लगाए जिससे उन्हें काफिर सिद्ध किया जा सके। मुख्य अभियोग यह था कि वे योगी, सन्यासी और ब्राह्मणों की संगति में रहते और उन्हें आरिफ (सिद्ध) मानते, वेद का अनुवाद करते और कराते, और अल्लाह के पवित्र नाम के बजाए 'प्रभु' का नाम हिन्दी में अपनी अंगूठी के नगीनों पर खुदवा-कर पहनते और इस प्रकार इस्लाम को खतरे में डालते थे। इस अभियोग-पत्र का रूप धार्मिक होते हुए भी इसमें राजनीतिक चाल ज्यादा नज़र आती है जो शायद उस समय औरंगजेब के लिए ज़रूरी हो गई हो। कुछ भी हो, औरंगजेब ने धार्मिक समन्वय और सहअस्तित्व का मार्ग छोड़ दिया और हिन्दू-विरोधी नीति का अव-लम्बन किया जिससे देश के बहुत बड़े भाग में विद्रोह भभक गया और साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया जिसकी चर्चा अगले अध्यायों में की जाएगी। फिर भी उनके राज्य काल में मानवप्रेमी अद्वैतवादी सन्तों की परम्परा चलती रही। क़ादिरी और शत्तारी सम्प्रदायों के मानव प्रेमी सूफी अपनी साधनाओं में रत रहे। उदार और सहिष्णु विचारों के शेख बुरहान शत्तारी से औरंगजेब ने आशीर्वाद लिया। शाह अब्दुर्रहीम, ख्वाजा खुर्द, अब्दुर्रिजा मुहम्मद, शेख बायिजीद, शाह कलीमुल्लाह जहानाबादी आदि सन्त अद्वैतवादी विचारों द्वारा सब की भलाई की बात सोचते रहे। जहाँ कट्टरता बढ़ी वहाँ मेल-मिलाप भी चलता रहा।

दादू का ब्रह्म-सम्प्रदाय

पिछले अध्याय में हमने भक्ति आन्दोलन की चर्चा की है। मुग़लकाल में उसने अनेक सम्प्रदायों और संगठनों को जन्म दिया। इनमें दादू (१५४४–१६०३ ई०) का ब्रह्म-सम्प्रदाय और वीरभान (ज० १५४३ ई०) का साध-सम्प्रदाय उल्लेख-नीय हैं। दादू राजस्थान के मुसलमान धुनिये थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने के लिए ब्रह्म-सम्प्रदाय स्थापित किया। हो सकता है उनके बाद उनके शिष्यों ने इसे चलाया हो। इतना निश्चय है कि उनके शिष्य सुन्दरदास ने इसे परब्रह्म-सम्प्रदाय का नाम दिया। इसके मानने वाले शास्त्रों के बाह्याचार से घृणा करते थे उनका आचार केवल इतना था कि वे एक सार्वजनिक स्थान (अलख दरीबा) पर एकत्र होकर भजन करते थे। ये लोग गृहस्थ और व्यवसायी थे। इनमें जाति-पाँति का कोई भेद न था। इनमें अनेक हिन्दुओं के अलावा काज़ी कदम, शेख फरीद, काज़ी मुहम्मद, शेख बहावद, बखना, रज्जब आदि बहुत से मुसलमान शामिल थे। ये सब गरीब होते हुए भी बड़े आदमियों की कोई परवाह नहीं करते थे। दादू अकबर तक से मिलने नहीं गये। अकबर को स्वयं उनके पास आना पड़ा। मिलने पर उन्होंने बादशाह से कहा कि 'मेरा यह शरीर ही एक पुस्तक है जिसमें दयानिधान भगवान अपने संदेश लिखते हैं ; मेरा जीवन ही मेरा पांडित्य है, मेरे भीतर ही भगवान का मन्दिर है, जहाँ मैं निर्विघ्न रूप से प्रार्थना में लीन रहता

हूँ। दादू लोक सेवा को सच्चा धर्म मानते थे और सरल सहज जीवन पर बहुत जोर देते थे। उनका संप्रदाय बहुत सी शाखाओं में बंट गया। इनमें बनवारीदास का उत्तराधी संप्रदाय, जिसका प्रधान केन्द्र पटियाला राज्य के रतिया ग्राम में है, और गोपालदास का सम्प्रदाय, जो हरद्वार में स्थापित है, प्रमुख हैं।

वीरभान का साध-सम्प्रदाय

वीरभान ने १६५८ ई० में साध-सम्प्रदाय जारी किया। उनके सिद्धान्त कबीर और दादू के विचारों से मिलते हैं। उनकी वाणी सिक्खों के 'आदिग्रन्थ' के नमूने पर 'आदि उपदेश' के नाम से संगृहीत है। इसे 'पोथी' भी कहते हैं। साध मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते। वे सतनाम के जाप द्वारा भगवान् का स्मरण करते हैं। सदाचार, मास और मादक द्रव्यों का त्याग, जाति-पाँति का विरोध और एक दूसरे की सहायता करना उनकी रीति-नीति के प्रमुख अंग हैं। वे बारह हुक्मों को मानते हैं : (१) एक ईश्वर में विश्वास करना, (२) सरल जीवन बिताना, (३) झूठ न बोलना, (४) बुरी बात न कहना, (५) किसी की चीज पर न ललचाना, (६) जाति भेद न मानना, (७) सफेद कपड़े पहनना, (८) नशीली चीजों से बचना, (९) किसी को तकलीफ न पहुँचाना, (१०) केवल एक पत्नी रखना, (११) भीख न मांगना, और (१२) अच्छे बुरे दिन-महीनों के चक्कर में न पड़ना। ये लोग नौकरी नहीं करते और उद्योग-धन्धों और व्यापार से जीविका कमाते हैं। एक दूसरे को नमस्कार करने के लिए वे हाथ उठाकर 'आनन्द' कहते हैं। उनका उपासनागृह 'जुमला घर' या 'चौकी' कहलाता है जहाँ वे सुबह-शाम 'पोथी' पढ़ने या सुनने के लिए आते हैं। कहते हैं कि यदि किसी साध पर आर्थिक विपत्ति आ जाए तो दूसरे बिना कहे उसके घर एक-एक ईंट और एक-एक रुपया पहुँचा देते हैं। जिला फर्रुखाबाद में इनकी बड़ी बस्ती है।

भीखा साहब आदि के सन्त सम्प्रदाय

इन सम्प्रदायों के अलावा भीखा साहब (ज० १७२० ई०), उनके शिष्य गोविन्दा साहब और प्रशिष्य पलटू साहब (१७५७–१८२५ई०) ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में अपने मतों का प्रचार किया। लालदासी, घासीदासी, जीवनदासी, चरणदासी, प्राणनाथी और शिवनारायणी सन्तों ने ऊँच-नीच के खिलाफ आवाज उठाई और अन्य अनेक साधु-सन्तों ने मानव-प्रेम की रागनी गाई।

बंगाल में हिन्दू-मुसलिम समन्वय का साहित्यिक रूप

इन्हीं दिनों बंगाल के धर्म-सम्प्रदाय ने समन्वय और समानता का स्वर

वा किया। खेलाराम, मयूरभट्ट (१५२८ ई०), रूपराम (१७ सदी का मध्य), मानिक म गांगुली और घनराम चक्रवर्ती (१७११ ई०) ने छोटी जातियों को उभारने के लिए र्म-मंगल काव्यों की रचना की। मुकुन्दराम चक्रवर्ती (रचना काल १५९३-६०३ ई०) वज्रतारा, मंगलचण्डी और पार्वती का समाहार कर 'चण्डी-मंगल काव्य' रा छोटी श्रेणी के स्त्री-पुरुषों, जैसे शिकारियों, मछुओं और चरवाहों के जीवन । प्रमुखता दी। श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानन्द ने वैष्णव पदावली को म्नतर स्तर के लोगों तक पहुँचाया। फलत: नासिर महमूद, सय्यद सुल्तान य्यद मुरतजा अली रज़ा आदि मुसलमान कवियों ने भी राधाकृष्ण का गुणागान या। सत्रहवीं सदी में बंगाल के हिन्दू और मुसलमान समान रूप से सत्यपीर के म से सत्यनारायण की पूजा करते थे। भैरवचन्द्र घटक और घनराम चकवर्ती ने त्यपीर पर काव्य लिखे। अठारहवीं सदी के सबसे बड़े बंगाली कवि भारतचन्द्र य ने सत्यपीर की प्रशंसा में दो भजन लिखे। वैष्णव कवि कृष्णहरिदास की सत्य-र संबंधी एक कविता में उनके मुख से यह कहलवाया गया है कि कुरान और राण में कोई भेद नहीं है और हिन्दू-मुसलमान का अन्तर निरर्थक है। सत्यपीर ी तरह चटगांव में त्रैलोक्य पीर, मेमनसिंह और चौबीस परगनों में गाजी साहब ौर पश्चिमी और मध्य बंगाल में मानिक पीर की पूजा हिन्दू मुसलमान सबको कता के सूत्र में बाँधती है।

गाल के बाडल मर्मियों का मानव प्रेम

बंगाल का धार्मिक समन्वय बाडल मर्मियों के काव्य में शतधा होकर फूटा । खेत-क्यार में काम करने वाले और नदी-तालाबों में नाव खेने और मछली कड़ने वाले हिन्दू और मुसलमान मर्मी उच्चतम मानववाद के स्तर पर पहुँचे हैं। नके मतानुसार ईश्वर और मनुष्य प्रेम के अटूट बंधन में बंधे हैं। मन में छुपा नुष्य (मनेर मानुश्) विश्व की चरम सत्ता है। इसी मनुष्य-रत्न (मानुश् रतन) ी खोज मनुष्य की सबसे बड़ी साधना है जिसका आधार और माध्यम प्रेम है। स मत से ईश्वर मनुष्यता का आदर्श रूप है जिसे प्रत्येक मनुष्य अपने भीतर भारने की क्षमता र ता है। उसके लिए मन्दिर-मसजिद, कुरान-पुराण, पोथी-पतरे ी जरूरत नहीं पड़ती ; न घर-बार छोड़ने और काम-धन्धा त्यागने की आवश्यकता ; केवल प्रेम-मिश्रित-मानवीयता को अपनाना काफी है। बिशा, जगा, बला और गाराम आदि बाडलों के गीत मानववादी दर्शन में उच्चतम स्थान रखते हैं।

फियों, सन्तों और भक्तों का समन्वय

मुगलकाल में सूफीमत में समन्वय की प्रवृत्ति प्रमुख हुई। क़ादिरी और तारी सूफियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसके अलावा सिन्ध, पंजाब और

उत्तर प्रदेश में समन्वयमार्गी सूफियों की परम्परा ने जोर पकड़ा। सिन्ध के करीम शाह (१६०० के लगभग) ने अहमदाबाद के निकट के एक वैष्णव सन्त से दीक्षा लेकर 'ओ३म' के जप में अपना जीवन बिताया, शाह इनायत ने कल्होरा के राजाओं की कट्टरता से संत्रस्त हिन्दुओं को शरण देकर अत्याचार से बचाया और अन्त में वे स्वयं कट्टर मुसलमानों के हाथों शहीद हुए ; शाह लतीफ़ (जन्म १६८९ई०) ने मधुर कविताओं द्वारा सब जातियों और सम्प्रदायों के एकीकरण की कोशिश की जिसके फलस्वरूप उनके स्थान भीट पर हर बृहस्पतिवार को हिन्दू और मुसलमान धर्म-लाभ के लिए इकट्ठे होते थे। बेदिल और बेकस (१८५९ई०) के गीत आज भी अपार जनता को शान्ति और प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं। दिल्ली में १६०० के लगभग सूफी साधक बावरी साहब हुए। इनके प्रशिष्य यारी साहब (१६६८–१७२५) अल्लाह के नाम के साथ-साथ राम और हरि का नाम जपते थे। वे कहा करते थे कि 'सृष्टि शून्य के पतरे पर प्रेम की लेखनी से लिखा गया भगवान का लेख है'। उनकी देहतत्त्व और शून्यतत्त्व की चर्चा हिन्दू दर्शन के तत्त्वचिन्तन की याद दिलाती है। यारी साहब के शिष्यों में बुल्ला साहब, शेखन शाह, हस्तमुहम्मद शाह और केशवदास उल्लेखनीय हैं। बुल्ला के शिष्यों में गुलाल साहब और जीवन साहब प्रमुख हैं। इन सब ने प्रेम, शान्ति और समन्वय की शिक्षा दी।

हिन्दुओं और मुसलमानों के समान आचार

इस महात्माओं के प्रयत्नों से हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के काफी निकट आए। बहुत से मुसलमान मुसीबतों से बचने के लिये मूर्तियों और मज़ारों की मन्नतें करने लगे। चेचक से बचने के लिए प्रायः सभी शीतला पर चढ़ाया चढ़ाते और हिन्दुओं जैसी रस्में अदा करते थे। खास तौर से दीवाली पर ईद की तरह ही मुसलमान खुशियाँ मनाते और बहन-बेटियों के पास भेंट भेजते थे। इस अवसर पर बरतनों को रंग कर उनमें लाल चावल भरकर भेजने का रिवाज था। औरतें पीरों और बीबियों की मन्नतें करतीं और उनके नाम के उपवास करती थीं। ये सब तथ्य शेख अहमद सिरहिन्दी की 'मकतूबात' से प्रकट होते हैं।

१७३९ में सालार जंग द्वारा लिखित 'मुरक्का-ए-दहली' से पता चलता है सन्तों के मज़ारों की यात्रा करना पुण्य का काम समझा जाता था। विभिन्न सन्तों के मज़ारों के लिए अलग अलग दिन पवित्र माने जाते थे। उदाहरण के लिए शनिश्चर को हजरत अली की कदमगाह की यात्रा होती थी तो इतवार शेख नसीरुद्दीन चिराग़ देहलवी के मज़ार की यात्रा के लिए नियत था ; बुध को शेख निज़ामुद्दीन औलिया के मज़ार पर मेला लगता था और बृहस्पति शेख कुतबुद्दीन की दरगाह पर जाने के लिए नियत था। इन अवसरों पर फातिहे पढ़े जाते, कव्वालियाँ और रंगरलियाँ होतीं और नजरें भी उठाई-मिलाई जातीं। होली, दीवाली, मुहर्रम पर

हर कौम के लोग खुशी और मस्ती से झूम उठते और बसन्त पर तो हफ्ते भर के लिए राग-रंग, गाने-बजाने और उछल-कूद में खो जाते। सातवीं रात को अहदीपुरा में खास मजलिस होती और एक काल्पनिक सन्त की कब्र को शराब से धोया जाता।

धर्मग्रन्थों के अनुवाद और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की नीति के फल: 'हक़ायक़-ए-हिन्दी' और 'दबिस्तान-ए-मज़ाहिब'

इस मेल-मिलाप के जमाने में साहित्य और विद्वता ने काफी उन्नति की। अकबर के काल से धर्म-ग्रन्थों के एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। अबुल फज़ल ने बदायूनी, फ़ैज़ी, नक़ीबखाँ और मुल्लाशीरी के महाभारत के फारसी अनुवाद की भूमिका में इस विषय में राज्य की नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा कि "जब मुसलमानों, हिन्दुओं और यहूदियों के धार्मिक मतभेद हद से ज़्यादा बढ़ गये और वे एक दूसरे के खण्डन में औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने लगे तो इनके मर्मज्ञों ने यह तै किया कि हर धर्म की पवित्र पुस्तकें उसके विरोधियों की भाषाओं में अनूदित की जाएँ जिससे पुण्यात्मा सम्राट् के आशीर्वाद से उनके मानने वाले आपसी झगड़ों-टंटों और मनमुटाव की ज्यादती से छुटकारा पाकर सत्य की खोज में लगें"। इस नीति के अनुसार महाभारत के अलावा अथर्ववेद, रामायण, हरिवंश, गीतासुबोधिनी, योगवासिष्ट, भागवत आदि के फारसी अनुवाद कराए गये। अनुवादों के अतिरिक्त धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कुछ मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये। इनमें मीर अब्दुल वाहिद बिलगरामी (जन्म १५०६ई०) की 'हक़ायक़-ए-हिन्दी' (भारतीय सत्य) उल्लेखनीय है। इसमें लेखक ने वैष्णवों की पचास से अधिक परिभाषाओं को इस्लामी मान्यताओं के साथ समन्वित किया है। उदाहरण के लिए 'कृष्ण' की पहचान कहीं हज़रत मुहम्मद, कहीं मनुष्य और कहीं ईश्वरीय अद्वैत सत्ता (अहदिय्यत) की परिकल्पना के संदर्भ में मानवीय वास्तविकता (हक़ीकत-ए-इन्सान) के साथ की गई है; गोपियों को कहीं फरिश्ते, कहीं मानव जाति और कहीं एकता और अनेकता के संबंध का प्रतीक बनाया गया है; 'उद्धव' कहीं हज़रत मुहम्मद के समकक्ष हैं तो कहीं उनके अनुयायियों के, 'ब्रज' कहीं इस संसार (आलम-ए-नासूत) को प्रकट करता है तो कहीं दिव्य जगत् (आलम-ए-जबरूत) को, 'गंगा' और 'यमुना' से एकता (वहदत), ज्ञान (मारिफत) और सापेक्ष-निरपेक्ष के संगम का बोध होता है, 'कंस' शैतान का पर्याय है और 'गोबर' मानव पाप का परिचायक है। इस ग्रन्थ के अलावा मोहसिन फानी के 'दबिस्तान-ए-मज़ाहिब' (धर्मों की वाटिका) में सब धर्मों के सिद्धान्तों की विशद चर्चा है।

रामायण गीता आदि के फारसी अनुवाद और फारसी में भारतीय विद्याओं के सन्दर्भ-ग्रन्थ

जहाँगीर के राज्यकाल में सूफी शरीफ ने योगवासिष्ट का अनुवाद, गिरिधरदास कायस्थ ने रामायण का भाषान्तर और शेख सादुल्लाह मसीह ने इसी का दूसरा संक्षेप, और बिहारीमल खत्री और किशनदास तम्बोली ने 'सिंहासन बतीसी' के रूपान्तर तैयार किए और शेख अब्दुर्रहमान चिश्ती ने भारतीय सृष्टि-विद्या के किसी ग्रन्थ का 'मीरात-ए-मखलूक़ात' नाम से सटीक अनुवाद किया जो महादेव और पार्वती के कथोपकथन के रूप में है। इसमें भी हिन्दू आख्यानों को मुसलिम मान्यताओं से मिलाया गया है। शेख अब्दुर्रहमान का 'मीरात-ए-हक़ायक़' नाम से गीता का संक्षिप्त अनुवाद बहुत महत्व का है। इसमें सर्वव्यापी भगवान की अद्वैत सत्ता (हमा अस्त) का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। दारा शिकोह के ग्रन्थों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है जो इस अनुवाद-यज्ञ की पूर्णाहुति हैं। औरंगज़ेब के काल में भी यह कार्य चलता रहा और मिर्जा रौशन ज़मीर ने 'मख़ज़न-अल-ग़रायब' के नाम से भारतीय संगीत-ग्रन्थ पारिजात का अनुवाद किया और मिर्जा मुहम्मद बिन फखरुद्दीन ने 'तुहफ़त-उल-हिन्द' के नाम से भारतीय विद्याओं का संदर्भ-ग्रन्थ तैयार किया।

लोक भाषाओं के साहित्य की श्रीवृद्धि में हिंदुओं और मुसलमानों का सहयोग

भारतीय ग्रन्थों के फारसी अनुवादों अथवा फारसी में स्वतंत्र ग्रन्थों के प्रणयन के अलावा इस युग में लोक-भाषाओं के साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला और इसकी श्रीवृद्धि में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर भाग लिया। शेख निज़ामुद्दीन औलिया के समय से ही सभा-मजलिसों में हिन्दी के गीत और भजन गाये जाते थे। फज़्लुल्लाह रशीदुद्दीन अबुलखैर ने 'जामी-उत्-तवारीख' में हिन्दी और कशमीरी भाषाओं का उल्लेख किया है। अमीर खुसरो अपने को हिन्दी का कवि कहने में गर्व अनुभव करते थे। मेहदवी क्षेत्रों में हिन्दी का काफी चलन था और 'तारीख-ए-गरीबी' के रचयिता खूब मियाँ हिन्दी के बड़े समर्थक थे। मुसलमान कवियों की हिन्दी कृतियों में मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन', कुतबन की 'मृगावती', मझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली' और मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' उल्लेखनीय हैं। जायसी का ग्रन्थ तात्कालिक संस्कृति का दर्पण और काव्य कला और प्रेमानुभूति का अनुपम निदर्शन है। सैय्यद इब्राहीम 'रसखान' के भजन, अब्दुर्रहीम खानखानाँ के कवित्त और सैय्यद गुलाम नबी बिलगरामी और अली मुहिब खाँ की रचनाएँ भी हिन्दी साहित्य में विशेष महत्व रखती हैं। मुगल शासकों ने हिन्दी कवियों को दिल खोल कर आश्रय दिया। अकबर ने सूरदास, हरिदास स्वामी, गंगभट्ट, नरहरि, परमानन्द आदि को

बढ़ावा दिया, जहाँगीर ने केशवमिश्र और मोहन सहज सनेही को अपनाया, शाहजहाँ ने बनारसीदास, सुन्दर कवि और शिरोमणि मिश्र का मान किया, औरंगजेब के जमाने में वृन्द, मतिराम और कालिदास त्रिवेदी ने तरक्की पाई, मुहम्मदशाह से आनन्दघन, घनानन्द और सुरतमिश्र को प्रोत्साहन मिला और आज़मशाह ने देव और बिहारी को आगे बढ़ाया। बंगाल में हुसैनशाह, परगलखाँ और छूतीखाँ के सहारे से मलधरवस, कवीन्द्र परमेश्वर और श्री करननन्दी ने भागवत और महाभारत के बंगला अनुवाद किए। हिन्दी की तरह सिन्धी में शाह अब्दुल लतीफ़ (१६८०–१७४८ई०) का 'शाहजू रिसालो', पंजाबी में शेख इब्राहीम फरीद का 'नसीहत नामा', माधोलाल हुसैन (१५३९–१५९४ ई०) के गीत, बुल्लेशाह की काफियाँ, अली हैदर (१६९०–१७८५ ई०) और वारिसशाह (१७६६ ई०) का 'हीर राँझा' और हाशिम शाह (१७५३–१८२३ ई०) का 'सस्सी पूनम' कश्मीरी, में अकबर की समकालीन हब्बाह खातून के गीत और बँगला में यसोराज खाँ (पन्द्रहवी सदी का उत्तरार्ध) का 'कृष्ण-मंगल', अलावल का 'पद्मावत' का अनुवाद आदि लोक संस्कृति को साहित्य का कलेवर प्रदान करने के अनुपम प्रयास हैं। मुसलमानी प्रभाव से 'काफी', 'बारहमासा', 'अठवारा', 'किस्सा', 'बैत', 'दोहरा', 'वार' आदि लिखने का रिवाज बढ़ा। रीति कालीन कविता पर मुसलिम संस्कृति का काफी प्रभाव है और इसमें राधा-कृष्ण उस समय के छैला के रूप में आए हैं। जहाँ मुसलमानों ने भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध किया, वहाँ हिन्दुओं ने भी फारसी में सुन्दर रचनाएँ कीं। चन्द्रभान बरहमन, आनन्दराम मुखलिस, लछमीनारायण शफीक, वृन्दावन दास, टेकचन्द बहार, माधोराम आदि के फारसी के लेख उच्च कोटि के हैं। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में मुग़लकालीन सामंजस्य अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुआ।

मुगलकाल की स्थापत्य कला में हिंदू और मुसलमान शैलियों का समन्वय

साहित्य की तरह कला भी मुग़ल युग के समन्वय का वाहन बनी। गुनगुनाते चश्मों से गूँजते और फूलों से महकते बागों में बने इस काल के मकबरे अथवा महल ईरानी और भारतीय शैलियों के संगमस्थल हैं। उदाहरण के लिए हाजी बेगम द्वारा बनवाए गए हुमायूँ के मकबरे में ईरानी ढंग का गुम्बज और भारतीय ढंग की संगमरमर की भराई इन दोनों शैलियों के मेल का साक्ष्य देते हैं। अकबर की बनवाई हुई इमारतों में लाल पत्थर का प्रयोग ज़्यादा है, कहीं-कहीं विविधता पैदा करने के लिए संगमरमर भी लगाया गया है। ये भवन विचारों के मूर्तिमान रूप प्रतीत होते है। जहाँगीर के ज़माने में सजावट अधिक चल पड़ी थी, जो शाहजहाँ के समय में चरम सीमा पर पहुँची। जहाँगीर को चित्रकारी और बाग़बानी से अधिक प्रेम था। अतः उनके समय में इन कलाओं को अधिक बढ़ावा मिला। शाहजहाँ ने स्थापत्य, नक्काशी और जड़ाई के काम में अधिक रुचि ली। उनकी बनवाई हुई इमारतें, विशेषतः मोती

मस्जिद और ताजमहल, स्वप्नलोक का वातावरण पैदा करती हैं। जब कोई व्यक्ति विशाल दरवाज़ों और फुलवारी और फव्वारों से सटे रास्तों से होकर ताज की सफ़ील पर पहुँचता है तो ऐसा लगता कि वह चारुता और भव्यता के दूसरे लोक में चला गया हो। इसमें सौंदर्य और अनुराग की परिकल्पना चिलकती पाषाण-परम्पराओं में अवतीर्ण हो गई है और रोमांस और वेदना तथा जगत और जीवन की क्षणभंगुरता की चेतना मीनारों और मेहराबों और ऊँचे जालीदार पर्दों और गहरे नीरव तहख़ानों में व्याप्त है। भावना और कला का ऐसा संगम दुर्लभ है।

मुगलकाल की चित्रकला के विकास में हिन्दुओं और मुसलमानों का योगदान

मुगल काल में ईरानी प्रभाव के फलस्वरूप चित्रकला की बड़ी उन्नति हुई। व्यक्तियों का अंकन और दृश्य-वृत्तों का चित्रण इसकी विशेषता है। अकबर के समय में 'दास्तान-ए-अमीर हमजा', रामायण और महाभारत का चित्रण किया गया, किन्तु जहाँगीर को बेल-बूटों के हाशियों से सजी मनुष्यों की सजीव आकृतियाँ अधिक रुचती थीं। पशु, पक्षी और पुष्पों की सजीव अनुभूति और राजकीय सजधज का वातावरण उनके युग के चित्रों में खास तौर से मिलता है। मरते हुए अफीमची इनायतखाँ का चित्र मानव-जीवन के एक नाजुक मोड़ का गहरा अध्ययन है। यह कला ऐतिहासिक, व्यक्तिपरक और घटनाबद्ध है और इसमें शास्त्रीयता, नाटकीयता, वस्तुपरकता और यथार्थता ओत-प्रोत हैं। इसकी रूपरेखा सुनिश्चित और रंगचयन आकर्षक है। ये दासवन्त बसावन, केशोलाल, मुकुन्द, माधो, जगन्नाथ, खेमकरन आदि हिन्दुओं और मीर सय्यद अली, ख्वाजा अब्दुस्समद, मुहम्मद नादिर समरकन्दी और मौलवी फकीरुल्ला खां आदि मुसलमानों के सहयोग के प्रतीक हैं।

राजस्थानी चित्रकला में स्रष्टा और सृष्टि का प्रेममय रूप

मुगल चित्रकला ने राजस्थानी चित्रकला को गहराई से प्रभावित किया। इस कला में संगीत, प्रेमतत्त्व और भक्तिभाव की बहुलता है। इसमें स्त्री-पुरुष-पशु-पादपमयी संपूर्ण प्रकृति प्रतीकात्मक होकर अनन्त प्रेम के अनुसंधान में संलग्न दीखती है। कृष्णलीला, रागमाला, बारहमासा आदि के चित्रण जड़ और जंगम प्रकृति को भावना के स्पन्दन से आलोड़ित करते जान पड़ते हैं। इस कला से डोगरी, बसोली, कुल्लू और काँगड़ा की पहाड़ी शैलियाँ निकली हैं। इन में कृष्णलीला, नायक-नायिका भेद, साकेत आदि विषयों को तात्कालिक राजपूत संस्कृति के वातावरण में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ धर्म, संस्कृति, साहित्य और कला का अनुपम समन्वय मिलता है।

समृद्धि और सम्पन्नता से ओत-प्रोत समन्वय और शिष्टाचार

मुग़ल काल का समन्वय और शिष्टाचार समृद्धि और सम्पन्नता से ओत-प्रोत था। इसकी तड़क-भड़क और चमक-दमक चकाचौंध करने वाली थी। दरबारों में सोने-चाँदी, हीरे-पन्नों की जगमगाहट थी। चिकन और कन्ख्वाब से सजी खड़े मन्सबदारों की कतारें शोभा और संयम की तसवीरें थीं। अब्दुर्रहीम खानखानाँ जैसे मन्सबदार लाखों का दान करते और कवियों और कलावन्तों को आश्रय देते, तो ज़ाफर खाँ जैसे अमीर अपने घोड़ों को प्रतिदिन गुलाब-जल से स्नान कराते। मरने पर मन्सबों के खत्म होने की प्रथा के कारण हर आदमी अत्यधिक खर्चीला और उदार था और आमतौर से कर्ज़दार था। उनके घरों के ठाट-बाट, चहल-पहल और गमक-महक अद्भुत थे। वे घोड़ों और पालकियों में निकलते और उनके आगे-पीछे नौकरों के समूह चलते। इस समृद्धि और शिष्टाचार में हिन्दू और मुसलमान सभी साझी थे। इसी प्रकार कारीगर-किसानों की दरिद्रता सब के लिए समान थी। मुसलिम प्रशासकों की सख्ती के बावजूद भी व्यापारी वर्ग उठ उभर रहा था। समाज में थिरकन थी जो अठारहवीं सदी की बेचैनी में प्रकट हुई और जिसके फलस्वरूप नए भारत का जन्म हुआ। उस समय एकता और समन्वय की जो आधार-शिला रक्खी गई उस पर आने वाले परिवर्तनों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

समृद्धि और सम्पन्नता से ओत-प्रोत समन्वय और शिष्टाचार है। इ

मुग़ल काल का समन्वय और शिष्टाचार समृद्धि और
था। इसकी तड़क-भड़क और चमक-दमक चकाचौंध करने
सोने-चाँदी, हीरे-पन्नों की जगमगाहट थी। चिकन अ
मन्सबदारों की कतारें शोभा और संयम की तसवीरें थीं
मन्सबदार लाखों का दान करते और कवियों और क
ज़ाफर खाँ जैसे अमीर अपने घोड़ों को प्रतिदिन गुला
मन्सबों के खत्म होने की प्रथा के कारण हर आ
था ... था। उनके घरों

मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ